• श्रीराधेश्वरी जयति •

श्री भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ।

अथ

॥ श्रीमन्त्र रहस्य षोडशी ॥

जगदीशप्रसाद गोयल कृत

"भावार्थ प्रकाशिका"

हिन्दी भाषा टीका सहित

मुद्रापक तथा प्रकाशक—

सेठ नन्दराम श्रीनिवास

बम्बई वाले

प्रथम संस्करण १००० प्रति | वि० सं० २००६ ई० सन १९४९ | मूल्य-पंचपदीय श्रीगोपालमंत्र निष्ठ

॥ श्रीसर्वेश्वरौ विजयतेतराम् ॥

॥ श्री भगवन्निम्बार्काय महामुनीन्द्राय नमः ॥

अथ

श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्रविरचित—

❀ श्रीमन्त्र रहस्य षोडशी ❀

जगदीशप्रसाद गोयल कृत

संक्षिप्त भावार्थप्रकाशिका

हिन्दी व्याख्या सहित ।

सेठ नन्दराम श्रीनिवास ने सद्व्ययव्यय से

मुद्रापित तथा प्रकाशित कराया ।

प्रथम संस्करण १००० प्रति | वि० सं० २००६ ई० सन् १९४९ | मूल्य—पंचपदीय श्रीगोपालमंत्र निष्ठा

॥ श्रीनिम्बार्काय नमः ॥

श्री अनादि-वैदिक-सत्संप्रदायानुगामियों तथा गुरुवर्यों से

एक

आवश्यक नम्र निवेदन

शिष्य करने वाले गुरु महानुभाव नीचे की अत्यावश्यक बातों पर अवश्य ध्यान दें :—

१—प्रस्तुत पुस्तक में १५वें श्लोक में जो संस्कार-विधि का निरूपण है, उसमें शिष्य से जो प्रतिज्ञा व सम्बन्ध स्वीकार कराना लिखा है, और जो जो बातें बताई हैं, उनके विषय में प्रथम गुरु, शिष्य में उन बातों के समझने की योग्यता, उनके पालन में सामर्थ्य और शिष्य की इच्छा आदि सब बातों को खूब समझ लें और शिष्य को भी पूरी तरह समझा दें। वह स्वीकार करे, तभी उससे ये प्रतिज्ञायें कुलावावें, अन्यथा नहीं।

२—स्त्रियों से पूर्वोक्त सम्बन्धों की प्रतिज्ञायें न करावें।

३—यदि शिष्य बालक हो और उक्त बातों को समझने और पालने में असमर्थ मालूम हो तो केवल पञ्च संस्कार—अर्थात् (१) तिलक, (२) शङ्ख चक्राङ्कन, (३) भगवत् सम्बन्ध सूचक नाम, (४) मन्त्र और (५) पूजा की विधि (यदि वह पूजा करना स्वीकार करे तो बतावें, नहीं तो केवल मन्त्र जप विधि बता देना चाहिये) ही करदें। इसी पञ्च संस्कार से वैष्णवता हो जाती है। ऐसा ही नारद पञ्चरात्र का प्रमाण है। इसे अन्यत्र देखें।

❀ श्री सर्वेश्वरो जयति ❀

—॥ श्री १००८ श्री भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ॥—

भूमिका

इस "श्रीमन्त्ररहस्यषोडशी" के निर्माता श्रीसुदर्शनावतार, दिव्य-सूरि श्री भगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्र हैं। प्रलय काल में लुप्त इस पञ्च-पदीय ब्रह्मविद्या को अनन्त-कल्याण-गुण-सम्पन्न श्रीहंसावतार भगवान् ने जीवों को अपनी प्राप्ति (मुक्ति) लाभ कराने की इच्छा से सृष्टि के आदिकाल में इस मन्त्र को पुनः प्रकट किया और प्रथम निवृत्ति-मार्ग-प्रदर्शक-ब्रह्मपुत्र-श्रीसनकादिक ऋषियों को इसका उप-देश देकर आशीर्वाद दिया कि "इस पञ्चपदीय मन्त्र को विधिपूर्वक श्रीगुरु से ग्रहणकर जपनेवालों को अनायास ही मेरी प्राप्ति होगी।" श्रीसनकादिकों ने इसी मन्त्र का उपदेश देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी को दिया। श्रीनारदजी ने भगवदाज्ञा से भगवद्धर्म प्रवर्त्तनार्थ अवतीर्ण श्रीसुदर्शनावतार श्रीनिम्बार्काचार्य को उपदेश किया।

प्रमाणः—"नारायणमुखाम्भोजान्मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः।
आविर्भूतः कुमारैस्तु गृहीत्वा नारदाय च॥
उपदिष्टः स्वशिष्याय निम्बार्काय च तेन तु।
एवं परम्पराप्राप्तो मन्त्रस्त्वष्टादशाक्षरः॥

अर्थः—नारायण श्रीहंस भगवान् के मुखारविन्द से यह अष्टादशाक्षर पंचपदीय श्रीगोपाल मन्त्र प्रथम प्रकट हुआ। उन्होंने श्रीसनकादिकों को उपदेश किया और सनकादिकों ने देवर्षि श्री नारदजी को इसका उपदेश दिया। इस प्रकार यह मन्त्र अनादि परम्परा प्राप्त है।

इस श्रीगोपाल मन्त्र की अन्य सब मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठता, प्रभाव तथा जापक को अभीष्ट प्रदायक होने की शक्ति के विषय में कुछ शास्त्र प्रमाण उद्धृत करते हैं।—

"मन्त्रस्तुवैष्णवः स्वसंप्रदायपरम्परा प्राप्त एव ग्राह्यो देयश्च"।

अर्थः—स्वसंप्रदाय परम्परा प्राप्त मन्त्र ही ग्रहण करना तथा शिष्य को देना चाहिये। यह "श्रीगुरुभक्ति मन्दाकिनी" का सिद्धान्त है।

यह पञ्चपदीय मन्त्र तथा मुकुन्द शरण मन्त्र ही अनादि-वैदिक सत्संप्रदाय परम्परा प्राप्त हैं। अतः केवल इन्हें ही शिष्य को देना चाहिये, अन्य नहीं।

अब स्वतः प्रमाणभूत अथर्ववेदीय "श्रीगोपाल तापिनी" उपनिषत् का प्रमाण देते हैं:—

"अमुं पंचपदं मनुमावर्त्तयेदः सयात्यनायासतः केवलं तत्पदम्"।

अर्थः—इस पंचपदीय श्रीगोपाल मन्त्र का जो निरन्तर जप करता है वह सहज ही में भगवान् का मुख्य धाम प्राप्त कर लेता है।

अब गौतमीय तंत्र का प्रमाण देते हैं।—

"सर्वेषां मन्त्रवर्गाणां श्रेष्ठो वैष्णव उच्यते ।
विशेषात्कृष्णमन्त्रो भोगमोक्षैकसाधनम्" ॥
"तेष्वपि श्रीमदष्टादशाक्षरः श्रेष्ठ इत्युक्तं श्रीसनत्कुमारीये गोपालकल्पे"।

अर्थः—सब मन्त्रों में वैष्णव मन्त्र ही श्रेष्ठ हैं। उनमें भी भोग और मोक्षके एकमात्र साधन होने से श्रीकृष्ण मन्त्र ही श्रेष्ठ हैं। उन श्रीकृष्णमन्त्रों में भी श्रीमदष्टादशाक्षरमन्त्र ही सर्व श्रेष्ठ है। यह श्रीसनत्कुमारीय गोपालकल्प का प्रमाण है। यथा।

"गोपालविषया मंत्रास्त्रयस्त्रिंशत्प्रभेदतः ।
तेषु सर्वेषु मन्त्रेषु मन्त्रराजमिमं शृणु ॥
बहुना किमिहोक्तेन पुरश्चरणसाधनैः ।
विनाऽपि ज्ञानमात्रेण लभते सर्वमीप्सितम्" ॥

अर्थः—गोपालमन्त्र के ३३ भेद हैं। उन सर्व मन्त्रों में यह पंचपदीय श्रीमन्त्रराज ही श्रेष्ठ है। (अतः श्रीसनत्कुमार ने नारद जी को उपदेश किया है) पुरश्चरण के साधन बिना भी इस मन्त्र के ज्ञानमात्र से ही सम्पूर्ण अभीष्ट प्राप्त होते हैं। विशेष कहने से क्या प्रयोजन ?

इसका विशेष निर्णय 'स्वधर्मामृत-सिंधु" की 'तृतीय-तरंग' में देखें।

स्वयं श्रीनिम्बार्क भगवान् ने भी इसके प्रथम श्लोक में श्रीहंस भगवान् सनत्कुमार व श्रीनारदजी की वन्दना की है। सर्व प्रथम यह संप्रदाय श्रीहंस भगवान् ने प्रवर्त्तित किया, अतः इसका नाम "श्रीहंस संप्रदाय" पड़ा। पुनः श्रीसनकादिकों ने इसको ब्रह्मलोक

में प्रवर्त्तित किया, अतः "श्रीसनकादिक संप्रदाय" नाम पड़ा। पुनः देवर्षिप्रवर श्रीनारदजी ने देवलोकों में इसका प्रचार किया, इससे इसको "श्रीनारद संप्रदाय" भी कहते हैं। श्रीनिम्बार्क भगवान् ने श्रीनारदजी से इस मोक्षदायी विद्या को ग्रहणकर मनुष्य लोक में प्रवर्त्तित किया, इसीसे यह अनादि वैदिक सत्संप्रदाय वर्तमान कालमें "श्रीनिम्बार्क संप्रदाय" के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमत् सुन्दर भट्टाचार्य कृत "श्रीमन्त्रार्थ रहस्य-षोडशी" नामक ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई संक्षिप्त भाषा टीका है। इस समय इस अनादि वैदिक सत्संप्रदाय में संस्कृत के ज्ञाता विद्वान बहुत ही कम हैं, और शिष्य करने वाले भी अधिकतर इसके विषय से अनभिज्ञ हैं।

कुछ दिन पूर्व विरक्त तथा गृहस्थ संप्रदायानुयायियों में इस मन्त्र का प्रचार बिल्कुल उठ गया था। एक कल्पित वंशगोपाल मन्त्र चल पड़ा था। लोग बहुत ही भ्रम में पड़कर शास्त्र-विरुद्ध अनुचित मार्ग का अवलम्बन करने लगे थे। इत्यादि कारणों का विचार करने से इस अत्यन्त गोपनीय रहस्य को भी छपाकर प्रकाशित कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस संप्रदाय के पूर्वाचार्यों कृत अनेकों ग्रन्थ रत्न काल पाकर नष्ट होगये हैं, कहीं यह ग्रन्थरत्न भी उसी प्रकार नष्ट न हो जाय, इसी भय से इसकी संक्षिप्त भाषा टीका की है, जिससे सर्व स्वसंप्रदायानुयायी महानुभाव इसे समझ कर सांप्रदायिक सिद्धान्तों की रक्षा कर सकें।

मैं एक अज्ञ बालक हूँ। न तो मैं संस्कृत का ही विद्वान् हूँ

और न सम्प्रदाय के रहस्य ग्रन्थों का ही। इसका तात्पर्य अत्यन्त गम्भीर है, किन्तु भगवत्कृपा से अपने पूज्यपाद श्रीगुरुदेव श्री १००८ पं० श्रीकिशोरदासजी 'वेदान्तनिधि" से जो कुछ सुन और समझ सका हूँ, उसी भावानुसार, मैंने केवल निमित्त मात्र होकर उनके कराये, यह अनुवाद किया है। इस मन्त्रार्थ रहस्य ग्रंथ में सर्व शास्त्र समन्वय की जो सुन्दर शैली है, वह पूज्यपाद श्रीमत् सुन्दर भट्टाचार्यवर्य की है। इसमें जो कुछ त्रुटियाँ हैं, वे मेरी हैं और मैं अबोध बालक हूँ ऐसा समझ कर सम्प्रदायी विद्वान् गण मुझे क्षमा प्रदान करेंगे, ऐसी मुझे पूर्ण आशा तथा विश्वास है। संप्रदायी विद्वान् मुझे उन भूलों की सूचना देने की कृपा करें, जिससे उन्हें द्वितीय संस्करण में सुधार दिया जा सके। इस शुभ कृत्य के लिये मैं उनका आजन्म उपकार मानूंगा। यही विनम्र प्रार्थना है।

विनीत—

श्री १००८ पं० श्रीकिशोरदासजी

चरणाश्रित,

अनादि-वैदिक सत्संप्रदायानुगामियों का

लघु दासानुदास

जगदीशप्रसाद गोयल

जयपुर निवासी।

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा
श्रीगुरु पूर्णिमा
सं० २००६
जयपुर।

❀ श्रीमन्निम्बार्काय नमः ❀

❀ समर्पण ❀

पूज्यपाद पितामह श्री श्रीनिवासदासजी

महानुभाव !!!

आप ही के लालन-पालन तथा व्यावहारिक और पारमार्थिक शिक्षा के प्रभाव से आप ही का यह अबोध बालक इस परम गोपनीय रहस्य का अनुवाद करने में समर्थ हुआ है। आप बाल्यावस्था ही से मुझे स्वधर्म की शिक्षा का उपदेश बराबर देते रहे, और यह समझाते रहे कि मनुष्य जीवन की सार्थकता धर्मशिक्षा तथा धर्माचरण के द्वारा ही होती है। इतना ही नहीं, किन्तु स्वधर्म तत्त्वज्ञ सद्गुरुदेव द्वारा "शरण मन्त्र" तथा इस पञ्चपदीय ब्रह्मविद्या का विधिपूर्वक उपदेश दिलाकर मेरे मनुष्य जीवन को सार्थक कर कृतकृत्य कर दिया, इससे मैं आपका सदा ऋणी हूँ और रहूँगा। मैं अबोध बालक अधिक क्या कहूँ। यह—

"श्रीमन्त्र रहस्य षोडशी" की **"भावार्थ-प्रकाशिका"** संक्षिप्त हिन्दी टीका आपके भगवत्-सेवा-परायण कर-कमलों में सादर सप्रेम नम्रतापूर्वक अर्पण करता हूँ।

कृपया आपके शिशु की यह भेंट स्वीकार कर शुभाशीर्वाद प्रदान करें, जिससे मैं इसी प्रकार स्वधर्म-सेवा-रत रहूँ।

समर्पक—
आपका स्नेह भाजन
अबोध बालक
जगदीश प्रसाद।

गुरु पूर्णिमा
सं० २००६

॥ श्रीसर्वेश्वरो विजयते ॥

❀ श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ❀

अथ

❀ श्रीमन्त्र-रहस्य षोडशी ❀

—: भावार्थ-प्रकाशिका हिन्दी टीका सहित :—

श्रीमद्धंसं प्रणम्याथ कुमारान्नारदं मुनिम् ॥
ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि गुह्याद्गुह्यां सनातनीम् ॥१॥

ग्रन्थकार श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र इस ब्रह्मविद्या (श्रीमद्-ष्टादशाक्षर गोपालमन्त्र) के सर्व-प्रथम-प्रवर्त्तक-श्रीहंस भगवान् को प्रणाम करते हैं। मूल श्लोक में "प्रणम्य" पद है। उससे सदाचारानुसार प्रणाम की रीति की शिक्षा देते हैं। यथा—शरीर इन्द्रियादि द्वारा निर्माधिक व्यापार से श्रीहंस भगवान् को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर वाणी से उनके गुणादि का कथन, मनसे उन्हीं का सङ्कल्प, चित्तसे उन्हीं का चिन्तन तथा बुद्धि से उन्हीं के स्वरूप गुणादि का निश्चय करना अर्थात् शरीर, मन, वाणी, चित्त और बुद्धि, सबको सांसारिक विषयों से हटाकर उन श्रीहंस भगवान् में ही लगा देना चाहिये। जैसे हंस दूध और पानी के अलग करने में

समर्थ है, उसी प्रकार यह श्रीहंस भगवान् भी सार्वज्ञादि अनन्त गुणशक्तिमान् होनेसे जगत्के उत्पत्ति, पालन, संहार तथा मोक्षदान के कर्त्ता हैं, तब चेतन और अचेतन के विवेचन में प्रवीण हैं, इसमें तो कहना ही क्या है। अतः उन श्रीहंस भगवान को प्रणाम करना भी चेतनाचेतन तत्त्वके विवेचन में कुशलता प्रदान करता है। इसलिये मुमुक्षुओं को अनादि मायाके संबंधके नाशके लिये उन्हीं श्रीहंस भगवान् का स्मरण निरन्तर करना चाहिये। अब श्रीहंस भगवान्के शिष्य श्रीसनकादिकों को प्रणाम करते हैं। काम क्रोधादिकी निवृत्ति भी परम्परा द्वारा मोक्ष ज्ञानकी हेतु है। श्रीसनकादिक भगवान् काम क्रोधादि के जीतनेवाले तथा इस ब्रह्मविद्या संप्रदायके प्रवर्त्तक हैं इसलिये काम क्रोधादिकी निवृत्ति तथा ब्रह्म विद्या की प्राप्तिके लिये निरन्तर उनको भी प्रणाम करना चाहिये।

अब श्री नारद भगवान्को प्रणाम करते हैं। वे भगवत्तत्त्वका ज्ञान तथा भक्तिके देनेवाले हैं और जगत्के उद्धारकी इच्छासे परोपकारके लिये बद्धपरिकर हैं, अतः श्रीनिम्बार्काचार्य अपने श्रीगुरुदेव देवर्षि प्रवर श्रीनारद भगवान्को भी प्रणाम करते हैं। इसीप्रकार सब अनादि वैदिक सत्संप्रदायानुगामियोंको भी निरन्तर इनको प्रणाम करना चाहिये। कहने कथन से श्रीनिम्बार्क भगवान्ने इस मन्त्र को परम्परा के प्रवर्त्तक परमपूज्य आचार्यवर्यों को भी निरन्तर प्रणाम करनेकी शिक्षा दी है। अब "नारद" शब्द का अर्थ करते हैं। मनुष्योंके अज्ञानरूपी अन्धकारको नाश

करनेसे उनका नाम नारद है। यह नारदीय पुराण में लिखा है। यह महाभारतका वचन है कि वह नारदमुनि हैं, अर्थात् भगवत्तत्त्वके मननशील हैं यह तात्पर्यार्थ है।

अब "ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि" का अर्थ करते हैं। यह विद्या ब्रह्मके स्वरूप, गुण, शक्त्यादि विषयके साक्षात्कार अनुभवका प्रधान उपायरूप है। अब "गुह्याद्गुह्यां" का अर्थ करते हैं। यह विद्या आत्यन्तिक (सर्वश्रेष्ठ) कल्याणका मुख्य उपाय है, अतः अत्यन्त रहस्य होनेसे अनधिकारी पुरुषोंसे अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक गोपनीय अर्थात् छिपाने योग्य है। अब "सनातनीम्" पदका अर्थ करते हैं। अनादि संप्रदायकी परम्परा द्वारा शिष्य प्रशिष्यरूपसे सदा चली आई है इसलिये यह अनादि है। प्रलयमें तुम इस विद्याको सृष्टिके आदिमें श्रीहंस भगवान्ने संसारी जीवोंके कल्याणार्थ पुनः प्रवर्त्तित किया है। इसीसे इसको सनातनी तथा अनादि कहते हैं। तात्पर्य यह है, कि यह विद्या उक्त प्रकार श्रीहंस भगवान द्वारा प्रकट होकर शिष्यप्रशिष्य सम्प्रदाय द्वारा सदासे ही चली आई है अतः इसे अनादि वैदिक सत्सम्प्रदाय कहते हैं ॥१॥

यां प्राप्य साधवः पूर्वं भगवद्भावमागताः ॥
तस्मात्सर्वात्मभावेन धारणीया मुमुक्षुभिः ॥२॥

अब इस विद्याके विषयमें सदाचारका प्रमाण देते हुये इसकी स्तुति करते हैं।

पहले प्रथम चरणका अर्थ करते हैं। इस विद्याको परम्परा अर्थात् श्रीगुरुशरणागतिकी विधिपूर्वक सदाचार्यके उपदेशानुसार धारण करके पूर्व साधुगण इस अनादि वैदिक सत्संप्रदायके अनुगामी सदाचारमें कुशल वैष्णव भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्षको प्राप्त हुये हैं।

अब द्वितीय चरणका अर्थ करते हैं। यह विद्या भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्ष का असाधारण उपाय है, इसलिये आत्माके सर्वसंबन्धपूर्वक अर्थात् आत्माके ज्ञान, चिकीर्षा, प्रयत्नादि समुदायपूर्वक मुमुक्षुओंको इसे अवश्य धारण करना चाहिये। अर्थात् इस ब्रह्मविद्याको आत्माआत्मीय विषयमें वैराग्यवान् और भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्षकी इच्छावालोंको प्राण व परमनिधि के समान अत्यन्त प्रिय समझकर धारण करना चाहिये। इसे समझाते हैं। जैसे कोई रोगी प्राणरक्षा के लिये कडुआ और कषैला औषध भी अमृतके समान अत्यन्त प्रीतिसे पान करता है तथा कोई दरिद्री पुरुष निधि (द्रव्य) को प्राप्तकरके उसे अत्यन्त प्रिय समझकर बहुत प्रेमसे ग्रहण करता है और कोई भूखा शुष्क, चिकने और मधुरादि पदार्थ की इच्छा छोड़कर जो कुछ आहार मिलता है, उसे ही प्रेमपूर्वक ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुमुक्षुओंको भी इस विद्याको ग्रहण कर धारण करना चाहिये।

उक्त कथनसे इस विद्याके अनुबन्धोंको भी सूचित किया। अब अनुबन्धों को पृथक् पृथक् दिखाते हैं।

(१) पूर्वमें जिसका लक्षण किया है, ऐसा मुमुक्षु इस विद्याका अधिकारी है।

(२) सार्वज्ञ्यादि, वात्सल्यादि अनन्त कल्याण गुणनिधि श्रीभगवान् कृष्ण इसके विषय हैं।

(३) भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्ष प्राप्त करना इसका प्रयोजन है।

(४) इस विद्याके प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण और प्रतिपादक यह विद्या है, अतः प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव संबन्ध है॥२॥

अकारार्थो हरिः प्रोक्तो मध्यमार्थो गुरुस्तथा ॥
मकरार्थो जीवजातो विज्ञेयो वैष्णवोत्तमैः ॥३॥

अब मङ्गलाचरणपूर्वक इस ब्रह्मविद्याकी स्तुति कर अर्थ कहते हैं। प्रथम 'ॐ' (प्रणव) का अर्थ कहते हैं। 'ॐ' में अ, उ और म्, ये ३ अक्षर हैं। इसमें प्रथम अकारका अर्थ श्रुत्यादि शास्त्रों की कही रीति अनुसार "हरि" है।

प्रमाण—(१) "अ ब्रह्मेति,"—श्रुतिः। अर्थात् श्रुतिमें अकार को ब्रह्म कहा है। (२) गीता में, "अक्षराणामकारोऽस्मि" अर्थात् अक्षरोंमें अकार मैं हूँ, यह श्रीभगवत् वचन है। (३) "अकारो वासुदेवः स्यात्" इस एकाक्षरी कोषके अनुसार "अ" का अर्थ वासुदेव श्रीपुरुषोत्तम कृष्ण भगवान् हैं।

अब दूसरे अक्षर उकार का अर्थ करते हैं। "उन्नयतीति उ" अर्थात् जो ऊपर परधाम को प्राप्त करावे वह 'उ' नाम श्रीगुरुदेवका

है। "नेता गमयिता गुरुः", जो शिष्यको परधाम पहुँचादे, वह श्रीगुरुदेवरूप उकार का अर्थ है।

अब मकारका अर्थ करते हैं। अन्तिम वर्ण मकार का अर्थ जीव समूह है, जैसे अक्षरों में २५ वाँ अक्षर मकार है, उसी प्रकार २४ तत्त्वके बने इस भौतिक देहमें २५ वाँ चेतन तत्त्व जीव है। "पंच-विंशोऽयं पुरुषः" इस श्रुति प्रमाणानुसार २५ वाँ पुरुष जीव है। यह बात उत्तम वैष्णवोंको जानना चाहिये। मूल श्लोकमें "उत्तम" पदका प्रयोग करनेसे इस विद्याका अधिकारी अन्तरङ्गतम शिष्य है, यह सूचित किया ॥३॥

तथैव क्लर्थः कृष्णः स्याद् द्वितीयो गमयिता गुरुः ॥
चरमार्थश्च क्षेत्रज्ञ इति शास्त्रानुशासनम् ॥४॥

अब पूर्वमें ॐकार के व्याख्यानका जो अर्थ किया, उसको बीजमन्त्रमें भी दिखाते हैं। इस मन्त्रका बीज "क्लीं" है। इसका अर्थ कहते हैं। जैसे 'प्रणव' में अकारका अर्थ भगवान हैं, उसी प्रकार बीजमन्त्रमें भी "क्लृ" शब्दका अर्थ श्रीपुरुषोत्तम कृष्ण भगवान हैं। यह शास्त्रकी आज्ञा है। "कृष्ण" शब्दका बीज 'कृ' है। सवर्ण होने से ऋ को लृ आदेश हुआ। तब 'कृ' का "क्लृ" होगया और "क्लृ" को "ई" पर होने से 'क्ल्' तथा उसमें "ई" मिलकर "क्ली" होगया। इस बीजमन्त्रमें जो "ई" कार है, उसका अर्थ भी श्रीगुरु हैं। "इण् गतौ" धातुमें "क्विप्" प्रत्यय

के योगसे "ई" अक्षर बना है। उसको "शिजन्त" जानना चाहिये। तब यह अर्थ होगा, कि भगवत्तत्त्वके ज्ञापक और परधामको ले जानेवाले श्रीगुरुदेव ही "ई" का अर्थ हैं। शास्त्रोंमें गुरुका लक्षण इस प्रकार किया है। यथा—

ज्ञापयेद्यः परं तत्त्वं प्रापयेच्च परं पदम् ॥
गमयेच्च परं धाम स गुरुः परमेश्वरः ॥

अर्थः—जो शिष्यको परतत्त्वका ज्ञान करावे, परमपदको प्राप्त करावे और परधामको पहुँचावे, वह गुरु परमेश्वर है।

यहाँ "ई" कार का अर्थ भी ऐसे लक्षण सम्पन्न गुरुदेव ही हैं, यह समझना चाहिये। अब 'क्लीं' में अन्तिम अक्षर मकार का अर्थ करते हैं। यहाँ भी मकार का अर्थ पूर्ववत् जीवसमूह ही है ॥४॥

यद्वदागमबीजस्य सामान्या गतिरीरिता ॥
तथैव बीजमन्त्रस्य ज्ञातव्या हि मुमुक्षुभिः ॥५॥

पूर्वमें जैसे आगम बीजमन्त्रकी व्याख्या की है, उसी प्रकार बीजमन्त्र की भी व्याख्या जानना चाहिये। "श्रीगोपालोत्तरतापिनी" में कहा है—"क्लीमोंकारस्यैकत्वं पठ्यते ब्रह्मवादिभिः"। अर्थात् 'क्लीं' और ॐकार की एकार्थता है, यह ब्रह्मवादी ऋषिगण कहते हैं, क्योंकि "क्लीं" भी ॐकार का पर्यायरूप है ॥५॥

मंगलायाप्यखण्डार्थः शास्त्रारम्भे प्रकीर्त्यते ॥
भगवन्नामधेयत्वात्प्रोच्यते च महर्षिभिः ॥६॥

शंका—यदि "क्लीं" ॐकारका पर्यायवाची है, तो अर्थकृत पुनरुक्ति दोष होगा। यदि कहो, दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भावसे प्रयोग करनेमें पुनरुक्ति दोषका अवकाश नहीं है, तथापि प्रयोजनहीन दृष्टान्तका प्रयोग करना निरर्थक है।

समाधानः—"प्रणव" का अर्थ २ प्रकारका है।

(१) व्याकरण व्युत्पन्न (२) रूढ। अथम व्युत्पन्नार्थ की व्याख्या कर चुके, अब अखण्डार्थ (रूढ) की व्याख्या करते हैं। अखण्डार्थ ॐकार भगवान्का नाम है, अतः शास्त्रके आरम्भमें मंगलाचरण के लिये भी ऋषिगण इसका प्रयोग करते हैं। यथा—

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ॥
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्मांगलिकावुभौ॥

अर्थः—ॐकार और "अथ", ये दोनों शब्द प्रथम ब्रह्माके कण्ठको भेदकर निकले हैं, इसलिये ये दोनों मंगलस्वरूप हैं।

इस प्रमाणानुसार मंगलार्थ में ॐकारका प्रयोग किया है। यह जानना चाहिये ॥६॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्मेत्युक्तिरर्जुनसारथेः ॥७॥

'ॐ', 'तत्', 'सत्' ये ३ प्रकारके ब्रह्मके नाम हैं। 'ॐ', यह एक अक्षर ब्रह्म है, यह अर्जुनसारथि श्रीकृष्णका वचन है।

इन प्रमाणोंसे ॐकार ब्रह्मका नाम होना सिद्ध है, इसलिये मंगलार्थमें रूढ (अखण्ड) ॐकार का प्रयोग किया है ॥७॥

चरमार्थं हविः कृत्वा मध्यमं चार्पणं तथा ॥
प्रथमार्थे च ब्रह्माग्नावात्मानं जुहुयाद् बुधः ॥८॥

इतने ग्रन्थसे यहांतक मन्त्रके पदों (ॐ व क्लीं) का अर्थ संग्रहपूर्वक कहा। अब मन्त्रके अन्य पदोंका अन्वय वाक्यार्थ द्वारा दिखाते हैं।

चरम नाम अन्तिम, तृतीय पद ("म्") का अर्थ क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा समुदाय है। उस जीवात्माको हवि (हवन सामग्री) के रूपमें अपना स्वत्त्व त्यागकर भगवदीय वस्तु होनेसे भगवान् के अर्पण कर देना चाहिये। स्वत्त्व का अर्थ स्वतन्त्र सत्ता है। भगवदात्मक, भगवदात्मीय, भगवान् के नियम्य, भगवान् के आधेय और भगवान्के आधीन स्थिति, प्रवृत्ति वाले इस जीवको भगवान् की वस्तु समझकर भगवान्के ही अर्पण कर देना चाहिये। अब इसकी रीति बताते हैं। मध्यम, द्वितीयपद 'ई' कार श्रीगुरुदेव को अर्पण स्थानीय हवनक्रिया का प्रधान कारण स्रुवादि मानकर प्रथम पद "क्लु" शब्दके अर्थ अग्निस्थानीय ब्रह्ममें हवन कर दे, अर्थात् अपनेको सर्वप्रकार से भगवानके अर्पण कर देना चाहिये। भाव

यह है कि जीवमें जो अनादि कर्मरूप अज्ञानके कारण अपनेको स्वतन्त्र मानने का भाव है, उसे ब्रह्ममें त्याग कर देना। अपनेको कर्त्तापना, भोक्तापना, ज्ञान, अज्ञान, पुण्य, पाप आदि कर्म, देह, इन्द्रिय, बुद्धयादि तथा आत्मा-आत्मीयवर्ग के सहित प्रथम श्री गुरुरूप स्तुवामें रखकर प्रथम पदार्थ श्रीपुरुषोत्तम पदार्थ में समर्पण करदे। स्वकीय, परकीय, कृत्य, अकृत्यादि विचारमें कुशल और यह पराया अर्थात् परमात्माका है; पराई (भगवदीय) वस्तु को अपनी माननेमें दोष है, इत्यादि बातों को जाननेवाला ही "बुध" है। शास्त्रमें लिखा है।

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ॥
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणेतिशास्त्रात् ॥

अर्थः—जो पुरुष अपनेको और प्रकारका होने पर दूसरे प्रकारका मानता अथवा प्रतिपादन करता है, उस अपनेको छिपाने वाले चोरने सब पाप किये, क्योंकि चोर तो दूसरेकी वस्तु चुराता है, किन्तु इसने तो अपने आपको चुराया इसलिये वह महा पापी है।

इस विषयको दृष्टान्तसे समझाते हैं। जैसे 'नृग' राजा बड़ा धर्मात्मा होनेपर भी परकीय वस्तुको अपनी मानकर नरक गया, उसी प्रकार यदि मैं भी चेतनाचेतन भगवदीय वस्तुओं को अपनी स्वीकार करूँगा तो, अवश्य नरकको जाऊँगा। इस कथनका तात्पर्य यह है कि शिष्यको भी इसीप्रकार विवेक, लक्षण गुण वाला

होना चाहिये। जैसे हवि (साकल्य) को अग्निमें अर्पण कर देने पर फिर उसके पुनर्ग्रहणकी शंका किसीको नहीं होती—क्योंकि साकल्यका स्वरूप फिर प्राप्त नहीं हो सकता—उसकी भस्मको भी पुनः प्राप्त करनेका भाव नहीं होता, किन्तु उसे तीर्थादिमें डाल देते हैं, और उस हवन से उत्पन्न अपूर्वफल जबतक प्राप्त न हो, तब तक उसकी अपेक्षा करनी पड़ती है, उसी प्रकार जो आत्मा (अपने) और आत्मीय (अपनेसे संबंधित) स्वतन्त्रसत्ता हवि-रूप की गई, उसकी पुनर्प्राप्तिकी भावना भी छोड़कर उस होम में अनादि कर्मोंके संबंधसे अपनेमें जो स्वतन्त्रता का संस्कार आगया है, उसको धीरे २ त्याग कर उस अपूर्वसे जबतक अपने को भग-वदात्मीय होनेकी पूरी दृढता न हो, तब तक निरन्तर भगवदीय होनेका अभ्यास करे। यह "हवि" शब्दका तात्पर्यार्थ है।

जैसे हवन करनेके समय हवन साकल्यको प्रथम स्रुवामें रखकर पीछे अग्निमें छोड़ते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी आत्मनिक्षेप (आत्मा-आत्मीय-अर्पण) के समय प्रथम उसके कारणरूप श्रीगुरुदेवमें अपने स्वत्वको रखकर उनके द्वारा श्रीभगवान्‌के अर्पण करना चाहिये। यह स्रुवा शब्दका तात्पर्यार्थ जानना।

जैसे होमके हविको भस्म करने में अग्निकी ही शक्ति है, और दूसरी वस्तु की नहीं, उसी प्रकार आत्मा आत्मीय वर्ग हविर्भाग स्थानीयको आत्मसात् (अपना) कर उसकी स्वतन्त्रता छुडानेमें एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही की शक्ति है। अन्य देवताओंकी नहीं; क्योंकि श्रीभगवान्‌को छोड़कर और सब देवता जीवविशेष

हैं। अतः मोक्ष नहीं देसकते हैं। तात्पर्य यह है, कि आत्मा आत्मीयवर्ग सदा, सर्वप्रकारसे परकीय हैं किन्तु अनादि कर्मरूप अविद्याकी प्रेरणासे यह जीव देवता व तिर्यकादि (तिरछी योनि-वाले, सर्प, पशु-पक्षी आदि) देहके योगसे बारंबार संसार-चक्रमें घूमता रहता है। उस संसार चक्रकी निवृत्तिके लिये भगवदीय वस्तुको भगवान्‌की समझकर उन्हींको अर्पणकर देना उचित है। शास्त्रमें लिखा है।

द्व्यक्षरं तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ॥
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति न शाश्वतम् ॥

अर्थः—आत्मा-आत्मीय वस्तु मेरी है, ऐसा मानना मृत्यु अर्थात् प्रमाद है, भगवान्‌से बहिर्मुख करता है, अतः संसारमें घुमाने वाला है। वही आत्मा-आत्मीय चेतनाचेतन वस्तु परकीय (भगवदीय) होनेसे मेरी नहीं है। भगवदात्मक होनेसे भगवान् की ही है, ऐसा समझकर भगवान्‌को अर्पण करदे, तब निश्चय ही मुमुक्षु संसारसे छूटकर भगवद्भावापत्ति-लक्षण मोक्षका भागी होता है। यह संक्षिप्त तात्पर्य है। विशेष "श्रीमन्त्रार्थरहस्य-षोडशी" में देखें ॥८॥

हित्वाऽऽत्मानं बुधश्चैवं कृतकृत्योऽभिजायते ॥
भवबंधविनिर्मुक्तो ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात् ॥९॥

पूर्वोक्त विवेक, गुणयुक्त मुमुक्षु अपने अनादि प्रकृतिके संबन्धकी प्रेरणासे अनादि अज्ञान द्वारा अपनेमें जो स्वतन्त्रता

(स्वत्व) का भाव तथा आत्मीय वर्गमें ममत्व (मेरापना) पैदा हो गया है, इनको पूर्वोक्त रीतिसे श्रीगुरुदेव द्वारा परब्रह्ममें समर्पण करके कृतकृत्य हो जाता है, उसको कोई कार्य करने योग्य शेष नहीं रहता, अर्थात् वह जीवके करनेका सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर चुका, क्योंकि समग्र साधन इस अर्पणविधिके अन्तर्गत आ जाते हैं। उसको संक्षेपमें दिखाते हैं।

(१) श्रीहरि और गुरुके आज्ञापालनमें कर्मयोगका अन्तर्भाव होजाता है।

(२) अपनेको भगवदात्मक होनेकी धारणामें ज्ञानयोग का अन्तर्भाव है।

(३) भगवानमें अत्यन्त प्रीति होनेमें भक्तियोगका अन्तर्भाव है।

(४) श्रीगुरुमें आत्मन्यास करनेसे गुरुकी आज्ञापालनमें शरणागतियोगका अन्तर्भाव हो जाता है।

शास्त्रमें यही साधन मुख्य बतलाये हैं। इन सबका पूर्वोक्त रीतिसे अन्तर्भाव हो गया। अतः उसको करने योग्य कोई साधन बाकी नहीं रहगया।

प्रमाणः—"तेन तेनाप्यते तत्तन्न्यासेनैव महामुने!
परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः॥
या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थ चतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः" इत्यादि॥

अर्थः—हे महामुने ! जिन २ साधनोंके द्वारा जो २ वस्तुएं प्राप्त होती हैं, उन साधनोंको छोड़कर केवल इस आत्मा-आत्मीय वर्गको भगवानमें अर्पण करनेसे ही वही सब पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं और पुरुषोत्तम परमात्मा भी इस न्यास विद्यासे साध्य (प्राप्य) हो जाते हैं।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ प्राप्त करनेके लिये जिन २ साधन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, उनके बिना भी यदि मनुष्य नारायण का आश्रय (शरणागति) दृढ विश्वास पूर्वक ग्रहण करे तो उसे चारों पुरुषार्थ सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं।

वह मुमुक्षु प्रकृतिके बन्धनसे एकदम छुटकारा पाकर ब्रह्म सायुज्य नामक भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह क्रम है। श्रीभगवान्के साक्षात्कार से भगवद्भावापत्ति-लक्षण मोक्ष प्राप्त होती है। इसमें प्रमाण देते हैं।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधुय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

अर्थः—स्वपरतत्त्वका ज्ञाता विद्वान् जब सुवर्णके समान वर्ण वाले जगत्के कर्त्ता, चतुर्मुख अथवा वेदों की योनि और सबके

ईश पुरुषका साक्षात्कार कर लेता है, तभी पुण्यपापोंको धोकर मायाके अञ्जनसे रहित हो भगवान् की परम समताको प्राप्त होता है। ब्रह्मा, शिवादिक से पर उस परमात्माका जब वह साक्षात्कार कर लेता है, तब उसके संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध, तीनों प्रकारके कर्म क्षीण होजाते हैं और हृदयकी सब ग्रन्थियाँ तथा स्वपर विषयक सर्व संशय आपही नष्ट हो जाते हैं। यह भगवान् का साक्षात्कार उनकी परम प्रसन्नतासे ही होता है। यथा—

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः
प्रसादान्महिमानमात्मनः ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥

अर्थः—कृतुजन्य ज्ञानके अविषय उस परमात्मा को वीतशोक पुरुष धाता (भगवान्) की कृपासे अपने अन्तरात्माकी महिमा को देखता है। जिस मुमुक्षुको परमात्मा अपनी कृपापूर्वक अपनावे, उसीको वह प्राप्त होता है। उस मुमुक्षुको परमात्मा अपने शरीरके समान स्वीकार करता है।

इस से यह भाव आया कि, वह भगवान का प्रसाद पूर्वोक्त आत्मन्यास विद्या से ही होता है, इसलिये यहाँ आत्मन्यास विद्याका ही विधान किया है। यथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

अर्थः—जिस परमात्माने सृष्टिके आदिकालमें ब्रह्मापदके योग्य जीवको ब्रह्मापदके अधिकारमें स्थापन किया और इस अधिकारकी रक्षाके लिये वेदों का दान दिया, सब आत्माओं की बुद्धि के प्रकाशक उस देव की मैं मुमुक्षु शरणमें जाता हूँ।

इस श्रुतिमें शरणागतिको ही भगवत्प्राप्ति का मुख्य उपाय बताया। गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने कहा है ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

अर्थः—हे अर्जुन! तुम शरणागति विरोधी सब धर्मोंको छोडकर एक अद्वितीय मुझ वासुदेव भगवान्की शरणमें आओ। मैं तुमको सब पापोंसे छुडाऊँगा। शोक मतकरो।

इत्यादि तथा अन्यान्य हजारों शास्त्र वाक्योंसे यह सिद्ध है कि भगवान्के चरणोंमें शरणागतिपूर्वक आत्मन्यास करनाही भगवान् के प्रसादका मुख्य कारण है। इसलिये जीवों को इस दुःखमय संसार से छुटकारा पानेका एक सरल उपाय केवल भगवत् शरणागति अर्थात् आत्मन्यास विद्या ही है। इससे भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं और भगवद्भावापत्तिलक्षण मोक्ष प्राप्त करा देते हैं। 'सायुज्य' पद का अर्थ एकता नहीं है, किन्तु भगवान् के साथ नित्ययोग (संबन्ध) होना ही है। इसका विशेष विचार "कौस्तुभ-प्रभा" में देखना चाहिये ॥६॥

एतस्यैव हि मन्त्रस्य शिष्टं विवरणं स्मृतम् ॥
तेषु कलर्थश्च व्याख्यातो द्राभ्यां पद्भ्यां बुधोत्तमैः ॥१०॥

पूर्वमें बीजमन्त्रकी व्याख्या करनेसे इस पूरे मन्त्रकी व्याख्या हो चुकी, तो भी मन्दबुद्धि जनोंके उपकारार्थ संग्रह करके मन्त्रके बचे हुये चारों पदोंकी व्याख्या करते हैं। उसमें प्रथम पद "कृष्णाय" के लक्षण द्वारा भगवान के स्वरूप, गुण, शक्ति सहित वर्णन करते हैं। दूसरे "गोविन्दाय" पदसे प्रमाण निरूपण करते हैं, और तृतीय पद "गोपीजन" इत्यादिसे मुमुक्षु-पुरुषका गुरुके साथ सम्बन्ध वर्णन है। अन्तिम "स्वाहा" पदसे आत्महोम का विधान है। अब इसको विशेषरूपसे स्पष्ट दिखाते हैं। यथा—

"कृष्ण" शब्द २ प्रकारका है। (१) सखण्डार्थ (२) अखण्डार्थ। सखण्डार्थ भी २ प्रकारका है। (१) व्याकरण व्युत्पन्न (२) ऋषि व्युत्पन्न। अब प्रथम व्याकरण द्वारा व्युत्पत्ति दिखाते हुये व्याख्या करते हैं। यह "कृष्णाय" पद चतुर्थ्यन्त व ४ पदवाला है। 'कृ' का यहाँ तन्त्रपाठ किया है। यथा—

'कृ' (तन्त्रपाठ), 'कृष्,' 'ण्' और 'अ' ये चारपद हुये। उस में "डुकृञ्करणे" और "कृष विलेखने," इन दोनों का "विबप् प्रत्यय" का सर्वापहारी लोप होने पर 'कृ,' 'कृष्' बना रहा। तन्त्रपाठवाले कृ' का लोप होने पर 'कृष्' पद शेष रहा, किन्तु अर्थ लोप हुये तन्त्रपाठ वाले 'कृ' का भी बना रहा। प्रथम "कृ" (डुकृ-

अकरणे) का अर्थ 'करना' है। 'कृप्' (कृप् विलेखने) शब्द संहारका वाचक है। "वस्तुलाभकरो णशब्दः," इस प्रमाणानुसार 'ण' कार का अर्थ वस्तुलाभ अर्थात् मोक्षप्राप्त कराना है। "अव-रक्षणे" धातुसे "क्विप्" प्रत्ययका योगहोनेसे 'अ' कार मात्र अवशेष रह जाता है। अतः 'अ' का अर्थ रक्षा करना होगया। इस प्रकार जगत्का उत्पन्न करना, संहार, मोक्षदेना और रक्षा ये चार बातें क्रमशः 'कृष्ण' पदमें सिद्ध हुईं। यही ब्रह्मका लक्षण श्रुतियोंमें किया है। यथा—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति"॥
"यत्प्रयंत्यभिसंविशंति, संसारबंधस्थितिमोक्षहेतुः" ॥
"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" ॥ (गीता)

अर्थः—परमात्मासे ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उसीके द्वारा ये जिवाये (पाले) जाते हैं। मुक्ति अवस्थामें सबप्रकारसे उसीमें प्रवेश करते हैं और प्रलय कालमें उसीमें प्रविष्ट होकर रहते हैं। संसारके बन्धनमें डालना, संसार में स्थित रखना तथा मोक्षदेना, इत्यादि सब भगवान्के ही आधीन हैं। गीतामें भी श्रीमुखसे कहा है, "मुझसे ही सब उत्पन्न होते हैं, और मुझसे ही सब संसार प्रवर्त्तित होता है"।

अब 'आर्ष' व्युत्पत्ति पक्षमें 'कृष्ण' का अर्थ करते हैं। यथा—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" ॥

अर्थः—'कृष्ण' शब्द भू (सत्ता) वाचक और "ण" शब्द निर्वृत्ति (सुख, आनन्द) वाचक है। ये दोनों मिलनेसे "परब्रह्म कृष्ण" अर्थ होता है।

इससे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुतिमें कहा हुआ द्वितीय स्वतन्त्र लक्षण भी 'कृष्ण' में घट गया।

अखण्डार्थ पक्षमें 'कृष्ण' पदका अर्थ श्रुतिमें कहे हुये सच्चिदानन्दरूप श्रीकृष्ण, यह अर्थ होता है। प्रमाण—

"सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे"।

अर्थः—सच्चिदानन्दरूप अक्लिष्टकारी श्रीकृष्णके लिये नमस्कार।

इस प्रकार सूत्रकार वेदव्यासका कहा हुआ ब्रह्मका स्वरूप लक्षण, "जगत्के जन्मादि का कारण" श्रीकृष्णमें पूर्णरूपेण घट गया। द्वितीय लक्षण ,'सत्यं ....." आदि भी सृष्टि निरपेक्ष स्वरूप लक्षण घट गया।

"कृष्णाय" पदमें जो चतुर्थी विभक्ति 'आय' है, उसका अर्थ पूर्वोक्त अर्थवाले परब्रह्म 'श्रीकृष्णके लिये', 'स्वाहा' नाम अपने को आत्मा-आत्मीय वर्ग सहित समर्पण करना है।

इससे सार्वज्ञ्यादि, कारुण्य वात्सल्यादि गुण शक्ति भी श्रीकृष्ण में आक्षेपसे सिद्ध होते हैं। उसीको संक्षेपमें दिखाते हैं।

जगत् जन्मादि हेतु, मोक्षदाता, सच्चिदानन्द स्वरूप, सार्वज्ञ, वात्सल्यादि, अनन्त असंख्येय, स्वाभाविक गुण शक्त्यादि से पूर्ण भगवान् 'श्रीकृष्ण' पदार्थसे अभिन्न 'कृत्' पदार्थ हैं, यह संक्षेपार्थ है।

अब संक्षेपमें कुछ गुणोंको व्याख्यासहित बताते हैं। निम्नलिखित ६ गुण सृष्टिकरने में उपयोगी हैं और इन गुणोंके संपूर्ण रूपेण होनेसे ही उनकी "भगवान्" संज्ञा है।

(१) ज्ञानः—समस्त देश, काल व वस्तुओं का निरन्तर प्रत्यक्ष-अनुभव होना।

(२) शक्तिः—न घटनेयोग्य घटनाको घटानेमें कुशल सामर्थ्य।

(३) बलः—संसारको धारणकरनेकी शक्ति।

(४) ऐश्वर्यः—संसारको नियन्त्रणमें रखनेकी शक्ति।

(५) तेजः—दूसरेसे तिरस्कृत न होकर उसको दबाने (प्रभावित करने) की शक्ति।

(६) वीर्यः—श्रमका कारण होनेपर भी श्रमरहित होना।

अब भगवान् का आश्रय करनेमें शरणागतोंको तथा शरणागतोंकी रक्षाकरनेमें भगवान्को उपयोगी मुख्य २ गुणोंकी व्याख्या करते हैं।

(१) वात्सल्यः—शरणागतोंके दोषोंको न देखना।

(२) सौशील्यः—जात्यादि महत्ताकी अपेक्षा न करके अत्यन्त मन्दपुरुषों से भी प्रेमसे मिलना। इसका दूसरा अर्थ अपने शरणागतोंकी रक्षाका स्वभाव है।

(३) स्वामित्वः—अपनेसे अन्य समस्त वस्तुओंको स्वकीय जानने का निश्चय।

(४) सत्यप्रतिज्ञत्वः—मिथ्या न बोलना।

(५) कृतज्ञत्वः—शरणागतके थोडे किये हुये को भी बहुत मानना।

(६) स्थैर्यः—स्थिरवृत होना अथवा युद्धादिमें अचल रहना।

(७) पूर्णताः—प्रत्युपकार की इच्छा न रखना।

(८) औदार्यः—आत्मपर्यन्त अपने आपको भी भक्तको दान करने का स्वभाव।

(९) कारुण्यः—परदोषको क्षमा करना।

(१०) दयाः—बिना कारण परदुःख से दुखित होकर उसको दूर करनेकी इच्छा।

श्रीभगवान्में और भी अनन्त दिव्यगुण हैं। विस्तार-भयसे व्याख्या नहीं की है।

अब पूर्वोक्त गुणोंमें शास्त्र-प्रमाण देते हैं।

"विविक्षितगुणोपपत्तेश्च । सर्वोपेता च सा" ॥

अर्थः—कहनेके योग्य दिव्यगुण भगवानमें हैं। वह देवता भगवान् सर्वशक्तिमान् है । यह व्याससूत्र भगवत्-गुणोंमें प्रमाण है ।

विष्णुपुराणमें ६ गुणोंका वर्णन इस प्रकार किया है—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हैयेर्गुणादिभिः॥
तेजोबलैश्वर्यमहाववोधः स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः ।
परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः संति परावरेशे"॥

अर्थः—संपूर्ण ज्ञान, संपूर्ण शक्ति, संपूर्ण बल, समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, तथा समस्त तेज, ये ६ भगवत्-शब्द वाच्य हैं, किन्तु मायिकहेय गुणों को छोड़कर हैं। तेज, बल, ऐश्वर्य, महाज्ञान, वीर्य, शक्त्यादि गुणोंके समूह श्रीभगवान हैं। परों से पर हैं, और इस परावर परमात्मामें क्लेशादिका लेश भी नहीं है।

यह विष्णुपुराण से सिद्ध है।

सलक्षणप्रमाणाभ्यां स्वरूपगुणशक्तिभिः ॥
एकेन चरमार्थस्य गुरुणा योग उच्यते ॥११॥

पूर्वमें स्वरूप, गुण, शक्त्यादि सहित मन्त्रके वाच्य श्रीकृष्ण भगवान् का लक्षण निरूपण किया। अब श्रीकृष्ण पदार्थसे गोविन्द

पदार्थका श्रुत्यादि द्वारा अभेद प्रतिपादन करते हुये प्रमाणके द्वारा 'गोविन्दाय' पदका अर्थ करते हैं।

(१) 'गोविन्द' पदमें 'गो' और 'विन्द', ये २ पद हैं। 'गो' नाम वेदवाणी उन भगवान् श्रीकृष्ण में प्रमाणरूपसे प्राप्त होती है, अतः उन्हें गोविन्द कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें वेदही एकमात्र प्रमाण हैं।

प्रमाणः—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।
तामानि सर्वाणि यमाविशन्ति।
तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।
नमो वेदान्तवेद्याय ।

अर्थः—सम्पूर्ण वेद जिस पदको कहते हैं, सब नाम जिसमें प्रवेश करते हैं, उस उपनिषत् (वेद शिरोभाग) प्रतिपाद्य पुरुषको हम पूछते हैं। वेदान्तसे जानने योग्य उस परमात्माको हम नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है—"शास्त्रयोनित्वात्" अर्थात् एकमात्र शास्त्रही जिस (भगवान्) में प्रमाण हैं। इन शास्त्रवाक्योंसे यह तात्पर्य निकला कि भगवत्तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एक मात्र शास्त्रही प्रमाण हैं।

(२) "गो" नाम सूर्यमें उसके अन्तर्यामी रूपसे जो उसका प्रकाशक है, वह "गोविन्द" है।

प्रमाणः—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरे।
यमादित्यो न वेद" ।

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" ॥

अर्थः—"जो सूर्यके भीतर है, किन्तु सूर्य उसे नहीं जानता"। यह श्रुति है। "जो तेज सूर्यके भीतरसे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें है, वह मेराही है"। यह गीतामें श्रीमुखोक्ति है।

(३) "गो" नाम भूमिमें आधारशक्तिरूपसे जो प्रसिद्ध है, वह 'गोविन्द' है।

प्रमाणः—"यः पृथिव्यां तिष्ठन्" अर्थात् जो (भगवान) पृथ्वी में है और पृथ्वी उसे नहीं जानती। यह श्रुति है। गीतामें भगवान्ने कहा है, "मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने बलसे सब प्राणियोंको धारण करता हूँ"।

(४) 'गो' नाम वेदोंमें जो प्रतिपाद्यरूपसे प्रसिद्ध है, वह गोविन्द है।

प्रमाणः—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"। अर्थात् सम्पूर्ण वेदोंसे मैं ही एक जानने योग्य हूँ।

उपरोक्त तथा अन्यान्य शास्त्र व्युत्पत्ति इसमें प्रमाणरूप से विचारलें।

"योऽसौ सूर्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति, योऽसौ गोषेषु तिष्ठति, योऽसौ सर्वेषु वेदेषु तिष्ठति, यौऽसौ सर्वैर्वेदैरिष्यते" ॥

अर्थः—जो यह (गोविन्द) सूर्य में रहता है, जो गायों में रहता है, जो गोविन्द गायों का पालन करता है, जो गोविन्द सब वेदों में रहता है और संपूर्ण वेद जिस (गोविन्द) का गान करते हैं।

ये श्रुतियाँ 'गोविन्द' पद में प्रमाण हैं। यह गोविन्द पदार्थ का अर्थ हुआ, और उसमें जो चतुर्थी विभक्ति 'आय' है, उसका अर्थ उपरोक्त लक्षणवाले परब्रह्म कृष्ण पदार्थसे अभिन्न गोविन्द पदार्थके लिये स्वाहा नाम अपनेको अर्पण करना है।

अब बचे हुये तृतीय पद का अर्थ करते हैं।

तृतीयपद "गोपीजन वल्लभाय" के द्वारा, बीजमन्त्रमें जो अन्तिम अक्षर 'म' कार (जीव) है, उसका गुरुके साथ संबन्ध कहते हैं। ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता, अणु और अणु परिमाणवाला, ये 'म' (जीव) के ४ वाचक हैं। 'मन' ज्ञाने, 'मसी' परिमाणे, इन दोनों धातुओं से 'ड्' प्रत्ययके योगसे धातुका मकार मात्र अवयव शेष रहा। इसमें भाव व्युत्पत्तिसे (१) ज्ञानस्वरूप और (२) अणुरूप तथा कर्तृ व्युत्पत्तिसे (३) ज्ञानाश्रय (ज्ञाता) और (४) अणु-परिमाणाश्रय, वे जीवके ४ प्रकार के लक्षण सिद्ध हुये।

प्रमाणः—"यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवमरे अयमात्मा ऽनन्तरो ऽबाह्यः कृत्स्नः, प्रज्ञानघन एव, विज्ञातार-मरे ! केन विजानीयात् जानात्वेवायं पुरुषः, अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यः ॥

अर्थः—जैसे मैंधे नमकका पिण्ड (ढेला) बाहर भीतर एक समान होता है, उसीप्रकार यह आत्मा सब तरफसे रसघन है। अरे मैत्रेय! यह आत्मा बाहर भीतर संपूर्ण प्रज्ञानघन है। इस विज्ञाता आत्माको किस प्रकार जाने। यह जीवात्मा जाननेवाला अर्थात् ज्ञाता है यह आत्मा निश्चयतः अणुरूप और चित्तसे जानने योग्य है।

अब व्यास सूत्रका प्रमाण देते हैं।—

"ज्ञोऽतएवः नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्"। अर्थात् यह जीव ज्ञाता है। "जीव अणु नहीं है क्योंकि उसके अणु होने में श्रुति प्रमाण नहीं है", ऐसा नहीं कहना चाहिये। उस 'विभु' श्रुति का अन्य परमात्मा में अधिकार है। यह जीव के अन्य लक्षणों का भी उपलक्षण है।

अब, श्रीआद्याचार्य चरण श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र ने सब शास्त्रों का सार लेकर स्वरचित 'दशश्लोकी' में जीव का जो लक्षण किया है, उसे दिखाते हैं।—

"ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववंतं यदनंतमाहुः॥"

अर्थः—जीव ज्ञानस्वरूप, सर्वावस्था में हरि के आधीन तथा कर्मानुसार शरीर के संयोग वाला और भगवत् कृपा से, मुक्त होने पर भौतिक शरीर से रहित, अणुस्वरूप, प्रतिदेह में भिन्न, ज्ञाता

और अनन्त है। इसकी विशेष व्याख्या "वेदान्तरत्नमंजूषा" में देखें।

(१) नित्यमुक्त, (२) मुक्त और (३) बद्ध, ये ३ प्रकार के जीव मकारार्थ के अन्तर्गत होने से पूर्वोक्त लक्षण वाले ही हैं। अब बद्धों के बीच में मुमुक्षु का गुरु के साथ सम्बन्ध दिखाते हुये "गोपीजन वल्लभाय" का अर्थ करते हैं।

"गो" नाम इन्द्रियों को "पी" नाम अपने २ विषयों में जो अपनी समझकर लगावे, वह 'गोपी' नाम प्रकृति का है। उस प्रकृति के सम्बन्ध से जिन जीवों का देहादि के साथ जन्मादि का योग होता है, उन्हें 'गोपीजन' अर्थात् जीवात्मा कहते हैं। उनमें अपने शरणागत मुमुक्षुओं का 'वल्ल' नाम अनादि प्रकृति के सम्बन्ध से जो अज्ञानरूपी आवरण है, उसे ब्रह्मविद्या द्वारा दूरकर 'भ' नाम स्वस्व परत्वविषयक ज्ञानको प्रकाशित करने वाले 'गोपीजन वल्लभ', द्वितीय पदार्थ, परधाम को लेजाने वाले श्रीगुरुदेव हैं।

प्रमाणः—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं परमं वेदसत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"। (श्रुति)

अर्थः—वह विद्वान् गुरु प्रशान्तचित्त शमादि साधनयुक्त शरणागत शिष्य को यथार्थ ब्रह्मविद्या का सत्य उपदेश करे जिससे शिष्य परम अक्षर परमात्मा को जाने ॥११॥

चरमेणात्महोमस्य विधानं परिकीर्तितम् ।
अनेनैवास्य शास्त्रस्य ह्यनुबंधाः प्रकीर्तिताः ॥१२॥

अब चरम (स्वाहा) पद की व्याख्या करते हैं। अन्तिम 'स्वाहा' पदसे आत्महोम अर्थात् आत्मा आत्मीय विषयमें अनादि प्रकृति की प्रेरणा से उत्पन्न स्वतंत्रतारूपी स्वत्वका न्यास विधान (त्याग करने की क्रिया) जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि आगे कही जाने वाली रीति से मुमुक्षु अपने आत्मा आत्मीय स्वत्व को त्यागकर पूर्वोक्त लक्षण सम्पन्न, मध्यम (ई) अर्थ की व्याख्या वाले, पूर्वोक्त चतुर्थ (गोपीजन वल्लभाय) पदार्थवाले, निर्हेतुक कारुण्यादि गुणवश जीवोंके उद्धार की इच्छा से मनुष्यरूप से पृथ्वी पर अवतीर्ण भगवत्रूप, स्वआत्मस्थानीय श्रीगुरुदेव में उसे रखकर गुरु द्वारा ही अग्नि स्थानीय प्रथम पदार्थ की व्याख्यारूप श्रीकृष्ण पदार्थ से अभिन्न गोविन्द पदार्थ के लिये समर्पण करदे। यह धारणा करेकि मैं और आत्मीय सब प्रथम पदार्थ से अभिन्न श्रीकृष्ण के लिये ही हैं। मेरे लिये नहीं हैं। ऐसा निश्चयकर पूर्वपदमें जो चतुर्थी विभक्ति है, उसके लिये समर्पण कर दे यह 'स्वाहा' पदका संक्षेपार्थ है।

प्रमाणः—"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादादवाप्नोषि शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! तुम सर्वसंबन्ध (दास्य, वात्सल्य, मित्रादि) पूर्वक उस परमात्माके शरणमें जाओ। उसकी प्रसन्नता से तुम शाश्वत मुक्तिपद प्राप्त करोगे। 'सर्वधर्मान्' आदि श्लोक का अर्थ कर चुके हैं। 'यो ब्रह्माणं विदधाति.....' आदि मन्त्रका भी अर्थ पीछे देखें।

इस कथन से 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ की भी व्याख्या हो चुकी। इसे संक्षेपमें दिखाते हैं। 'तत्त्वमसि' में 'तत्,' 'त्वम्' और 'असि,' ये ३ पद हैं। इसमें 'तत्' पदका अर्थ पूर्वोक्त प्रथम पदार्थसे अभिन्न श्री वासुदेव भगवान् हैं। 'त्वम्' पदार्थ पूर्वमें कहे मकारार्थ से अभिन्न जीवात्मा है। जीवात्मा ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्मसे अभिन्न भी है। स्वरूपसे भिन्न होने पर भी भगवदात्मकत्वादि संबन्ध से अभिन्न है। दोनो (भगवान् और जीव) के आत्मा-आत्मीय, आधाराधेय, व्याप्य व्यापक, नियम्य-नियामकादि संबन्धोंको बताने, समझाने और करादेने वाले 'असि' पदार्थ से अभिन्न ईकारार्थ श्रीगुरुदेव हैं यह संक्षेपमें वाक्यार्थ निरूपण किया। उक्तप्रकार ब्रह्म के साथ जगत् जीव अर्थात् चेतनाचेतन वस्तुका भिन्नाभिन्न (द्वैताद्वैत) संबन्ध शास्त्रसिद्ध है।

मध्यस्थ, आप्तपुरुष, शास्त्रोक्त-लक्षण-संपन्न श्रीगुरुदेवही यह उपदेश देते हैं कि जीवमात्र ही भगवदात्मक होनेसे भगवान् की ही वस्तु है। इसमें उसका (जीवका) कुछ भी नहीं है।

पूर्वोक्त कथनोंसे सर्व शारीरक मीमांसा शास्त्र का अर्थ भी इसमें अन्तर्गत हो गया। इसे संक्षेपमें दिखाते हैं।

प्रपत्तव्य भगवान् श्रीकृष्णको जगत् जन्मादि के कारण प्रतिपादन करनेसे उनमें सब शास्त्रका समन्वय दिखाया, अतः प्रथम समन्वयाध्यायका अर्थ आचुका। कृष्ण परमात्मामें सर्वशास्त्रोंका प्रमाण दिखानेसे उससे अन्य प्रकृत्यादि कारणवादी सांख्यादि शास्त्रोंके मतका अप्रमाणिक होना प्रकाशित किया, इससे दूसरे अविरोधाध्यायका अर्थ भी आक्षेपसे सिद्ध हो चुका। श्रीभगवान् की शरणागतिमें सब शास्त्रोंका अन्तर्भाव निरूपण करनेसे साधनाध्यायका अर्थ कहचुके और परब्रह्मसे अभिन्न भगवत् शब्दके वाच्य प्रपत्तव्य (भगवत्) भावापत्तिलक्षण मोक्ष स्वीकार करने से चौथे फलाध्यायका अर्थ भी कह चुके। यह विवेक जानना चाहिये।

अब श्रीभगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्रोक्त 'अर्थ पंचक' का भी इसमें अन्तर्भाव दिखाते हैं।

"उपास्यरूपं तदुपास्यकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पंच साधुभिः" ॥

अर्थः—(१) पूर्वोक्त लक्षण प्रमाणवाले भगवान् श्रीकृष्ण, प्रथमपदार्थ, शरणागतिके विषय यहाँ उपास्य पदार्थ हैं। (२) उक्त लक्षणयुक्त मकारार्थ (जीव) शरणागतिवाला उपासक पदार्थ है। (३) श्रीगुरु सबन्धपूर्वक शरणागति ग्रहणसे प्रसन्न भगवान् श्रीकृष्ण उपाय (साधन) पदार्थ हैं। (४) प्रपत्तव्य भगवान् के भावकी प्राप्ति छान्दोग्यकी प्रजापति विद्यामें कहे हुये गुणाष्टक का आविर्भाव लक्षण मोक्ष भगवत् कृपाका फल है।

(५) 'गोपी' पदार्थ वाला अनादि प्रकृतिके संबन्धसे अनादि कर्मात्मक अज्ञान द्वारा आत्मा-आत्मीय विषयमें स्वतन्त्रतारूपी स्वत्व का निश्चय संसारमें घुमाने वाला होनेसे विरोधी है।

पूर्वमें इस पंचपद समुदाय मन्त्रके चारों अनुबन्धोंको संक्षेप में कह चुके। अब उन्हीं अनुबन्धोंको भलीप्रकार समझाते हैं॥१२॥

गुर्वर्थं यस्य प्राणादि यौवनं धनमेव च ॥
आत्माऽऽत्मीयेषु निर्विण्णोऽधिकारी सम्यगीर्यते ॥१३॥

अनुबन्ध-(१) निम्नलिखित लक्षण, गुण संपन्न मुमुक्षु ही इस ब्रह्मविद्या का अधिकारी है।

(क) जो मुमुक्षु प्राण देहेन्द्रियादि, मायारहित हो पराभक्ति-लक्षण अत्यन्त प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा के उपकरणके लिये ही धारण करता है, गुरुसेवाके अभावमें प्राणादि धारण करना व्यर्थ समझता है और यौवन व धनादिको भी उन २ अवस्थाओंमें उचित गुरुसेवाके उपकरणके लिये ही समझता है, अपने लिये नहीं।

(ख) आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञादिसे अभिन्न अहमर्थरूप और आत्मीयनाम अनादि मायाके संबन्धसे अनादि कर्मजन्य भोगोपकरण देह, इन्द्रिय, मन, प्राणादि और इनसे किये हुये जो पाप-पुण्य कर्म, उससे हुआ जो स्वर्ग-नरकादि सुख-दुःखरूप भोग, उनसे हुआ जो अनुकूल और प्रतिकूल अनुभव, तथा उसके हेतु

पुत्र-कलत्रादिरूपसे जो अनेकप्रकारके चेतनाचेतन पदार्थ हैं, उन सब विषयों से वैराग्यवान् मुमुक्षु अधिकारी है।

(ग) "तस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः" अर्थात् मायी भगवान् इस विश्वको उत्पन्न करता है। उस में अन्य जीव मायासे बँधा है। इस तथा "योऽन्यथा सन्तम्..." इत्यादि और "मनेति च भवेन्मृत्यु .." आदि शास्त्र वाक्यों (जिनके अर्थ पीछे कर चुके हैं) से जिस मुमुक्षु को विवेक उत्पन्न हो गया है और यह निश्चय हो गया है कि "आत्मा-आत्मीय, चेतनाचेतन सब वस्तु भगवदात्मक हैं, अतः भगवान्के आधीन होनेसे उन्हींकी हैं, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है, न था, न होगा। इस परकीय वस्तुको यदि मैं अपनी मानूँगा तो पूर्वोक्त शास्त्ररीतिसे अपरिमित पापका भागी होऊँगा और ऐसा मानना दोनों लोकोंमें दण्डका कारण होगा, अतः भगवानकी वस्तु जिस किसी प्रकारसे हो, उन्हींको अर्पणकर देना चाहिये"। ऐसी श्रद्धा और विवेकसे संसारसे विरक्त, अर्पणरीति जाननेकी इच्छासे गुरुकी शरणमें जाने वाला मुमुक्षु इस विद्याका अधिकारी है।

"यथा सौम्य ! पुरुषं गंधारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततो विजने विसृजेत्। स यथा तत्र प्राङ्प्रोदङ्वा धराङ्वा विसृष्टस्तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गंधारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन्पंडितो मेधावी गंधारानेव संपद्यैवमिहाचार्यवान्पुरुषो वेद"।

अर्थः—हे शिष्य ! जैसे किसी पुरुषको गंधार देशसे आँखों पर पट्टी बाँधकर कोई ले आवे और जंगलमें छोड़दे; वह जब पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण भटकता फिरे, और कोई आप्तपुरुष उस की आँखोंकी पट्टी खोल कर कहे कि 'तुम्हारा गंधार देश इस दिशा में है। इसी दिशामें जाओ, तब अपने देश पहुँच जाओगे' तब यह सुनकर वह बुद्धिमान पुरुष ग्रामसे ग्राम पूछता हुआ गंधार देश पहुँचता है, उसी प्रकार गुरुसे सीखकर आचरण करने वाला पुरुष भगवान्को जानता है।

"न विना गुरुसंबन्धं ज्ञानस्याधिगमः कृतः।
गुरुः पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते" ॥

अर्थः—गुरुके संबन्ध विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। गुरु संसारसे पार करानेवाला है और ज्ञान उसकी नौका है।

यह 'मोक्ष धर्म' में शुकदेवजीके प्रति जनकजीने कहा है। अब गुरुके और भी लक्षण नीचे कहते हैं।

त्रिषु वर्णेषु संभूतो मामेव शरणंगतः।
नित्यनैमित्यकपरो मदीयाराधने रतः ॥
आत्मीयपरकीयेषु समो देशिक उच्यते ॥
आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः ॥

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः ॥
एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥

अर्थः—तीनों वर्णों में जन्मित, मेरे शरणागत, नित्य व नैमित्तिक कर्म करने वाला, मेरे आराधनमें प्रीति रखनेवाला, अपने व परायेमें समबुद्धि, आचार्य (आचरणशील) वेदका ज्ञाता, विष्णुका भक्त, मत्सररहित, मन्त्रके अर्थको ठीक जानने वाला, मन्त्रका भक्त, सदा ही मन्त्रका आश्रय करने वाला, पवित्र, अच्छी प्रकार गुरुका भक्त और पुराणका ज्ञाता, आदि लक्षण-वाले गुरुका आश्रय शिष्यको करना चाहिये। इसके विपरीत मूर्ख गुरुका आश्रय करनेमें शास्त्रमें दोष कहा है। यथा—

"भिन्नतावाश्रितः स्तब्धो यथा पारं न गच्छति ।
ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात्" ॥

अर्थः—टूटी नौकामें बैठनेवाला मूर्ख पुरुष जैसे नदी पार नहीं कर सकता, वैसे ही ज्ञानहीन गुरुको प्राप्तकर मोक्ष नहीं मिल सकती।

यह प्रसंगवश गुरु-शिष्यका लक्षण संक्षेपमें कह दिया ॥१३॥

विषयः प्रथमार्थः स्याच्चद्भावापत्तिलक्षणम् ॥
श्रेयः प्रयोजनं ज्ञेयं ज्ञाप्यज्ञापकयोगतो ॥१४॥

अनुबन्ध (२)—इस मन्त्रके विषय सच्चिदानन्दरूप, सार्वज्ञ्य, वात्सल्यादि, अनन्त, असंख्येय स्वाभाविक सद्गुण शक्त्यादिपूर्ण

भगवान् श्रीवासुदेव कृष्ण पदार्थसे अभिन्न 'कलु' पदार्थ ही हैं। यह पूर्वमें कह चुके हैं।

अनुबन्ध (३)—इस ब्रह्मविद्याका प्रयोजन भगवद्भावापत्ति-लक्षण मोक्ष है।

अनुबन्ध (४)—ज्ञाप्य प्रथम पदार्थ भगवान् श्रीकृष्ण और ज्ञापक यह पंच पद समुदायमन्त्र है, अतः ज्ञाप्य-ज्ञापक संबन्ध हुआ ॥१४॥

आदौ गुरौ न्यसेत्प्राणानात्मानं धनमेव च ॥
सर्वसंबन्धविषयं कृत्वा सेवेत नित्यशः ॥१५॥

अब शिष्यकी संस्कारविधिका निरूपण करते हैं।

कृपासिन्धुसुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः।
निस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः ॥

अर्थः—कृपासिंधु, सब जीवोंका उपकारक, वांछारहित, सब प्रकारसे सिद्ध और सब विद्याओं में पारंगत, यह 'विष्णुरहस्य' में कहे गये गुरुके लक्षण हैं। इनसे गुरुकी परीक्षाकर और उसमें अपनी श्रद्धा और विश्वास देख कर शरणागति ग्रहण करना चाहिये। गुरुके पास जाकर ३ साष्टांग दंडवत् सहित यह श्लोक बोले—

"त्रायस्व मो जगन्नाथ गुरो संसारवन्हिना।
दग्धं मां कालदष्टं च त्वामहं शरणं गतः" ॥

अर्थ;—हे गुरु, जगन्नाथ! मैं संसाररूपी अग्निसे जला हूँ। कालने मुझे काटा है। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। मेरी रक्षा करो।

गुरु शिष्यकी योग्यता निर्णय करके आचार्य परम्पराके उपदेशपूर्वक संस्कार करे और इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करे। इसकी रीति संक्षेपमें दिखाते हैं।

पूर्वोक्त लक्षणसम्पन्न मुमुक्षु पूर्वोक्त लक्षणवाले गुरुके पास जाकर उसके सामने ३ साष्टांग दण्डवत् करे, 'त्वामस्मि.....' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक बोले और यह प्रार्थना करे—

हे भगवन्! मैं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, इन तीनों तापों, ६ विकारों, ५ क्लेशों, सत्त्व, रज, तम, इन ३ गुणों से तथा शब्दादि विषयों से, सबप्रकार से ग्रस्त हूँ, अनन्त, असंख्येय पातकों से निरन्तर पीडित हूँ, स्वतन्त्र, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि स्वतन्त्र सत्ताके अभिमानसे, देह, इन्द्रिय, बुद्धयादिमें अपने भोगके साधनके अभिमानसे, पुत्र, कलत्र, मित्र, द्रव्य और गृहादि में अपनी भोग्यताके अभिमानसे, उन २ के साथ जो संबन्ध हैं, उन सम्बन्धोंके गर्व इत्यादिसे अनेकप्रकारके क्लेशोंसे काँप रहा हूँ। अब सब विषयोंसे छुटकारा पानेकी इच्छासे, वनकी अग्निसे पीडित मनुष्य जैसे गंगाजलमें शांतिलाभ करता है, उसीप्रकार मैं शांतिलाभ करनेके लिये आपकी शरण आया हूँ। स्वामी, पिता, पति, मित्रादि सर्व सम्बन्ध मैं आपहीके साथ स्वीकार करता हूँ।

आपका आत्मीय होकर सर्वसम्बन्ध पूर्वक आत्मारूपसे आपको स्वीकार करता हूँ। मैं सब साधनोंसे शून्य, अकिंचन, सर्वोपायुक्त तथा अगति हूँ। आप केवल अपने असाधारण कारुण्यादि गुण-वश हो, तथा पूर्वोक्त सर्वात्म भावसे आपको निवेदनकिये हुये अपने तथा आत्मीय वर्गको अपनाकर सर्वसम्बन्धपूर्वक मेरे रक्षक हो, मुझपर कृपा करो।

यह (१) 'गोपनृत्ववरणविधि' कही।

अब गुरु उसकी दुःखमय प्रार्थना सुनकर उसे अपने पास बैठाये, अपने हाथसे उसका हाथ पकडकर अपने चरणोंमें लगावे और पूछे कि, "यदि तुम संसारसे डरे हो तो क्या मेरी शरणमें आकर मेरे सेवक होना चाहते हो?" फिर शिष्यके मुखसे शिष्य-होना ३ बार स्वीकार करावे और कहे "यदि तुम मेरे सेवक हो, तो मैं तुमको आत्मसात् करता हूँ"। बार २ इसप्रकार पूर्वोक्त सर्वसम्बन्धानुसार उससे पूछकर तथा स्वीकार करवाकर कहे "आत्मसात् करता हूँ"। फिर आत्मसात्करके कहे, "मैं तेरा रक्षक हूँ, अब तुम संसार से मत डरो"।

यह (२) 'आत्मसात्करणविधि' कही।

फिर उसके मस्तकमें उन २ तिलकोंके मन्त्र बोलते हुये अपने हाथसे तिलक करे। अनन्तर

"सुदर्शन! महाबाहो! कोटिसूर्यसमप्रभ॥
अज्ञानतिमिरांधानां विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय"॥

इस मन्त्रसे उसका दाहिना हाथ चक्रसे अङ्कित करे।

"पांचजन्य निजध्वान ध्वस्तपातकसंचय ॥
पुनीहि पापिनं घोरं संसारार्णवपातिनम्" ॥

इस मन्त्रसे उसका बाँया हाथ शङ्खाङ्कित करे। फिर शिष्यका भगवत् तथा आचार्य सम्बन्ध सूचक नाम रखे और गुरु परंपरा का उपदेश करे। तत्पश्चात् स 'स्वराड् भवति," इस मन्त्रसे स्वराज्याभिषेक करे और कहे, "गुरुका अङ्कही तुम्हारा सिंहासन है, गुरुका दाहिना हाथही तुम्हारे लिये छत्र है, गुरुका बाँया हाथही तुम्हारा चमर है, गुरुदत्त यह विद्या ही तुम्हारी सेना है, श्रीभगवानका सम्बन्ध ही तुम्हारी राजधानी है, भगवद्भावापत्तिलक्षण मुक्तिही तुम्हारी जयश्री है और कामादिनिवृत्तिपूर्वक मायाके सम्बन्धका नाशही तुम्हारा दिग्विजय है"। यह आशीष दे। फिर दाहिने कानमें इस पंचपदसमुदाय मन्त्रका उपदेश करे और "रहस्यषाडशी" सुनावे फिर मुमुक्षु गुरुको ३ साष्टांग दण्डवत् करे। तत्पश्चात् शिष्यके हाथमें जलदेकर श्रीमूर्त्ति अथवा शालिग्रामसूर्ति को अपने हाथमें स्थापन करके शिष्यके मुखसे आत्मा आत्मीय अर्पण संकल्प पढ कर तथा उससे पढवाकर श्रीभगवान् के लिये अर्पण करादे। उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें पकड़कर यह मन्त्र बोले—

"श्रीकृष्ण ! रुक्मिणीकांत गोपीजनमनोहर।
स्वानुग्रहेण भगवन्नात्मसात्कुरु केशव ॥

संसारतापमग्नोऽयमागतः शरणं तव ।
स्ववात्सल्यगुणेनैनं ह्यात्मसात्कुरु माधव !" ॥

अर्थः—हे श्रीकृष्ण ! हे रुक्मिणीकांत ! हे गोपीजन मनोहर ! हे केशव ! हे भगवन ! अपनी कृपासे आप इसे आत्मसात् करें। संसारके तापमें डूबा हुआ यह आपकी शरणमें आया है। हे माधव ! अपने वात्सल्यादि गुणसे इसे आत्मसात् करें। इत्यादि मन्त्रोंसे उसका हाथ भगवान को ग्रहण करादे और आत्मसात् करावे। पुनः अपना चरणामृत दे, आलिंगनकर, "मैंने तुमको सर्वसंबन्धपूर्वक आत्मसात्किया, तुम दास्यादि सर्व संबधानुसार उन २ अवस्थाओंमें उचित सेवा सेवक, पुत्रादिके समान करते रहो" यह आदेश दे और "भगवन ! ऐसा ही करूँगा," यह ३ बार उससे कहवा ले। अनन्तर उसके साथ मायारहित होकर सर्वसंबंधानुसार अत्यन्त प्रीति करे और देश, काल तथा उसकी बुद्धि अनुसार उपदेश करे।

यह संक्षेपमें (३) संस्कारविधि कही।

श्रीभगवान्की पूजाके लिये यदि उसकी शक्ति हो, तो श्रीमूर्त्ति अथवा शालिग्राम को प्रथम उपचारपूर्वक गुरु, पूजा करके शिष्यके सिर पर रखे और कहे, "ये तुम्हारे स्वामी हैं, पूर्वोक्त सब संबन्धोंके विषय भी येही हैं। जिसके लिये तुमने आत्मा आत्मीय सब समर्पण किया है, येही मेरे भी स्वामी और सबसंबन्धों के विषय भी हैं। आत्मबुद्धिद्वारा सर्वसंबन्धानुसार ही अत्यन्त प्रीति-

पूर्वक उन २ अवस्थाओंमें इनकी उचित सेवा नित्य करो"। फिर भगवान्से अच्छीतरह प्रार्थना करके शिष्यको दे। यदि शिष्य सेवा करनेमें असमर्थ हो, तो "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि" इस भगवद्वचनानुसार मन्त्रजपकी विधि बता दे।

शिष्य अब यह धारणाकरे कि मैं और मेरे देहादिवर्ग मेरे नहीं हैं किन्तु श्रीभगवान्के ही हैं। ऐसा विश्वास करके आत्मा-आत्मीयकी स्वतन्त्रता गुरुके द्वारा भगवान्में अर्पण कर दे।

प्रमाणः—"गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परायणम्।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परागतिः॥
अर्चनीयश्च वंद्यश्च कीर्त्तनीयश्च सर्वदा।
ध्यायेज्जपेन्नमेद्भक्त्या यजेदभ्यर्थयेन्मुदा"॥

अर्थः—गुरु ही परब्रह्म हैं, गुरु ही परस्थान हैं। गुरु ही पराविद्या तथा गुरु ही परागति हैं। सर्वदापूजनीय, वंद्य और कीर्त्तनीय हैं। सदा उनका ध्यान, जप और भक्तिपूर्वक नमस्कार करे। प्रसन्नतापूर्वक उनका भजन और अभ्यर्थना करे।

इसका विशेष प्रमाण "मन्त्रार्थरहस्यषोडशी" में देखें।

शंकाः—उपरोक्त शास्त्र ईश्वरपरक हैं, इसलिये भिन्न विषय होनेसे गुरुमें प्रमाण नहीं हो सकता।

समाधानः—गुरु और ईश्वरको श्रुत्यादिमें अभिन्न माना है। उनमेंसे एक श्रुतिका प्रमाण दिखाते हैं।

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथागुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः" ॥

अर्थः—जिस मुमुक्षुकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है वैसीही भक्ति गुरुमें भी अवश्य करना चाहिये। उसी महात्मा मुमुक्षुको वेदान्तशास्त्रमें कहे हुये तत्त्व अनायास प्रकाशित होते हैं ॥१५॥

देहेन्द्रियमनःप्राणैर्मायां हित्वा समाहितः ॥
भृत्यवत्पुत्रवत्सेवेत्प्रियावन्मित्रवत्तथा ॥१६॥

देहिन्द्रियादि आत्मीय वर्गमें स्वकीयत्व (अपनापना) रूपी मायाको छोडकर अपनेको भगवदात्मक निश्चयकर देहादि आत्मीय वर्गों के सहित पूर्वोक्त भृत्यादि संबन्धपूर्वक सावधान हो, सदाही सेवा करे। तात्पर्य यह है कि जैसे भृत्य (नौकर) पुत्र, पत्नी, और मित्र अपने २ संबन्धियोंकी निष्कपट भावसे संबन्धानुसार सेवा करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् और गुरुकी सेवा निरन्तर करते रहना चाहिये ॥१६॥

या देया गुरुणा विद्या भवसंबन्धध्वंसिनी ॥
तां तदुक्तेन मार्गेण धारयेद्वैष्णवोत्तमः ॥१७॥

अङ्ग और परिकर—अङ्ग, मुद्रा, न्यास, ऋषि, छन्द, देवता, उसकी रीति, नियम, जप, ध्यान, अनुष्ठानका क्रम और इसकी मीमांसाकी रीति आदि—सहित गुरु यह ब्रह्मविद्या शिष्यको दे। यह संसारके संबन्धको नाश करनेवाली विद्या उत्तम वैष्णवोंको

गुरुका बताई हुई रीतिसे ग्रहण (धारण) करना चाहिये। (मनसे नहीं)।

आधिभौतिकादि तीनों ताप तथा तिरस्कारादि प्राप्त होनेपर पूर्वोक्त मकारार्थके विचारपूर्वक 'क्लु' पदार्थकी मीमांसा करनी चाहिये। इसकी रीति यह है कि "मकारार्थ जीव मुक्त हो, अथवा बद्ध हो, तथापि सदाही 'क्लृ' अर्थ से अभिन्न श्रीपुरुषोत्तम भगवान्के आधीन स्वरूप स्थिति, प्रवृत्तिवाला है। अतः यह भगवान के नियमन बिना तृणभी हिलाने में असमर्थ है। इसलिये हमको तथा औरोंको जरासी सुख दुःखका कारण न होना चाहिये, किन्तु हमारे अनादि कर्मानुसार उन कर्मोंके प्रधान प्रयोजक यही भगवान् उसको दूर करने वाले हैं, ऐसा विचार करना चाहिये। ये सुख दुःखादि नाममात्रके हेतु हैं।" इस प्रकार तत्त्वबुद्धिसे विचार कर रागद्वेषसे आत्मनाश न करे। सुख दुःखादिकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान् को छोड़कर अन्य देव या अन्य साधन या अन्य मतादि की अपेक्षा छोड़कर उन्हीं करुणा, वात्सल्यादि गुणनिधि भगवान्का ही सब प्रकार आश्रय करना चाहिये। इसमें "त्वमेव शरणं गच्छ..." इत्यादि प्रमाण प्रथम अर्थसहित दिखा चुके हैं, वहीं देखें।

सब प्रकारसे भगवान्का आश्रय करनेमें भी जीवोंकी स्वतन्त्रता नहीं है, किन्तु भगवान्में विश्वास उनकी कृपापूर्वक कराया हुआही होता है, यह विचार करे। शरीर, मानस, शिर, अधि

रोगादि तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, असूया, ईर्षादि आध्यात्मिक ताप प्राप्तहोनेपर अपनेको मकारार्थके अन्तर्गत जानकर सब अवस्थाओं तथा ज्ञान क्रियादि में भगवदाधीन होना निश्चय करे। कर्मों को भी भगवान्के निमित्तही प्रसिद्ध, जड तथा परतंत्र निश्चय करके सुख, दुःखादिको निमित्त (मिस) मात्र जानकर प्रधान कारणभूत प्रयोजक कर्त्ता भगवान्को पूर्वोक्तरीतिसे स्मरण करके तथा पश्चात्तापादि को छोड़कर यह विचार तथा निश्चय करे कि "जिस प्रयोजक, सर्वात्मा, तथा सबके नियंताकी प्रेरणा से मैं अपने कर्मोंसे इस अवस्था को प्राप्त हुआ हूँ, वही प्रधान प्रयोजक दूर करेंगे।

प्रमाणः—"*अहं त्वा सर्वपापेभ्यः, अभयं सर्वभूतेभ्यो।*
ददाम्येतद्व्रतं मम ॥"

अर्थः—मैंतुमको सब पापोंसे छुडाऊँगा, तुम किसी बातका शोक मत करो। तुम मेरी शरणमें आ चुके हो अतः तुम्हारा सब प्रकारका भार मुझपर है। सब भूतोंसे मैं तुमको अभय प्रदान करूंगा। यह मेरा दृढ़ व्रत है।

भगवान्की इन दृढ प्रतिज्ञाओंको याद करके यह समझे कि 'भगवान्ने कुछ काल तक मेरी उपेक्षाकी तो इसमें कोई क्षति नहीं है, किन्तु सुलभता ही है। मेरे सर्व सम्बन्धी वही हैं। लोक में एक २ सम्बन्ध होनेपर भी सब अपने २ सम्बन्धियोंकी रक्षा करते हैं, किन्तु मेरे तो वही सर्वसम्बन्धी हैं, अतः अवश्य ही मेरी

रक्षा करेंगे। भगवान् अत्यन्त अनन्त, स्वाभाविक करुणा, सौहार्द आदि गुणनिधि हैं। स्वयं उन्होंने श्रुतिमें कहा है।—"सर्वस्य शरणं सुहृत्" अर्थात् मैं सबका रक्षक और मित्र हूँ। अतः जितने समय तक उन श्रीभगवान्की इच्छा से जो क्लेशादि प्राप्त हुवे, उन्हें मुझे अवश्य भोगलेना चाहिवे।" ऐसा निश्चय करके प्रथम पदार्थ श्रीकृष्ण ही का आश्रय करे। भगवान्में विश्वासादिकी असंभावना जान पडे तो द्वितीय पदार्थ श्रीगुरुका स्मरण कर, उनकी उक्ति को अच्छी प्रकार विचार कर तथा उनसे प्रार्थना कर उनके द्वारा वह दूर करावे।

प्रमाणः—"हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरुरुष्टे न कश्चन।"

अर्थः—श्रीहरिके रुष्ट होनेपर एकमात्र श्रीगुरुदेव ही रक्षा कर सकते हैं, किन्तु गुरुके रुष्ट होनेपर कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।

अपनेमें स्वतन्त्रता विषयक बुद्धि होनेपर 'स्वाहा' पदार्थका संचिन्तन करे और यह विचार करे कि, मैं तो सब भगवान्को दे (समर्पण कर) चुका हूँ, अतः अब अपनेको स्वतन्त्र मानूँगा तो दत्तापहारी महादोषका भागी होऊँगा।

"योऽन्यथा सन्तमात्मानम्..." आदि वाक्यका (जिसका अर्थ पीछे कर चुके हैं) विचार करलें।

यहाँ तक मन्त्रके पदार्थों का निर्णय किया, इस विद्याके परिकर-विवेक वैराग्यादि पहले ही बता चुके हैं।

"विद्यां समाहितो भूत्वा ग्राहयेदुपधिं विना ।
तथोपनिषदां विद्यां विश्वासज्ञानवर्द्धिनीम् ।
अन्यामाध्यात्मिकीं विद्यां शिष्यानुवस्थानुसारतः ॥"

अर्थः—कपट छोड़कर सावधान मनसे गुरु शिष्यको विद्या ग्रहण करावे। उपनिषद् विद्या और विश्वास तथा ज्ञान बढाने वाली अन्यान्य आध्यात्मिक विद्यायें शिष्यकी अवस्थानुसार उपदेश करे।

अब शिष्यका कृत्य कहते हैं। उत्तम वैष्णव यह भवसंबन्ध का नाश करनेवाली विद्या धारण करे। अनादि प्रकृतिका जीवके साथ सम्बन्ध होना ही संसारका मुख्यकारण है। यह विद्या उसके नाशका मुख्य हेतु है, अतः श्रेयःप्राप्तिका असाधारण उपाय है। कोई २ मायाके स्वरूपका ही नाश मानते हैं, वह शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि शास्त्रमें मायाकी 'निवृति' और 'तरण' शब्द स्पष्ट लिखे हैं। इसलिये मायाके सम्बन्धसे छुटकारा होना ही शास्त्रका सिद्धान्त है। यथा—

"भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः,"
"मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ।"

अर्थः—"फिर अन्तमें विश्व मायाकी निवृत्ति होती है," यह श्रुति है। "जो मेरी शरणमें आते हैं, वे इस मायाको मेरी कृपासे तर जाते हैं।"

इन प्रमाणोंसे मायाके सम्बन्धका ध्वंस (नाश) ही शास्त्र सिद्ध सिद्धान्त है। अब शिष्यके लिये पुनः मार्ग बताते हैं। यथा-

"नमस्कृत्य गुरुं दीर्घं प्रणामैस्त्रिभिरादृतः।
तत्पादौ गृह्य मूर्धिनस्वे निधाय विधिनान्वितम् ॥
गृह्णीयान्मंत्रराजं तं निधिकांक्षीव निर्धनः।
दत्वा तु दक्षिणां तस्मै यथाशक्ति यथाविधि ॥
येनैव गुरुणा यस्य न्यासविद्या प्रदीयते।
तस्य वैकुण्ठदुग्धाब्धिद्वारकाः सर्व एवसः" ॥

अर्थ—शिष्य गुरुको ३ साष्टांग दंडवत् करे। उनके चरणों को मस्तक में लगावे। जैसे निधिकी इच्छावाला निर्धन बड़े प्रेमसे धन को लेता है, उसी प्रकार इस मन्त्रराजको गुरुसे प्राप्त करे। यथाशक्ति विधिपूर्वक गुरुको दक्षिणा दे। जिन श्रीगुरुदेवने कृपाकर यह न्यासविद्या (पंचपदीयमन्त्र) प्रदान की, वही शिष्यके लिये वैकुण्ठ, क्षीरसागर तथा द्वारकादि, सब तीर्थ हैं। इसको विशेषरूप से पहले कह चुके हैं।

इसमें वैष्णव को जो "उत्तम" विशेषण दिया है उस 'उत्तमता' का अभिप्राय, इस मन्त्रके देवतासे अन्य देव, मन्त्रसे अन्य साधन, भगवत् प्राप्ति छोड़कर अन्य प्रयोजनादिके सम्बन्धसे रहित हो श्रीहरि और गुरुके साथही सब सम्बन्ध स्थापित करना तथा गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करते हुये ईश्वर बुद्धिसे उन

२ भावोंके अनुसार उन २ अवस्थाओंमें सबप्रकार सेवा करना ही है। इसका विशेष मूल संस्कृत भाष्यमें देखें।

"यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति" अर्थात् ध्याता-भक्त इस लोकमें जिन २ प्रकार भगवानका ध्यान करते हैं, भगवान् भी उन २ भावोंके अनुसार कारुण्य वात्सल्यादि भावसे उन ध्याताओंमें अत्यन्तप्रीति करते हैं। इसके उदाहरण अर्जुनादि, गोपालादि लोक और शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं। भगवान्ने अपने मुखसे भी "वैष्णव पुराण" में कहा है—

"दास्यमैश्वर्ययोगेन ज्ञातीनां च करोम्यहम्।
अर्द्धभोक्ता च योगानां वाक्दुरुक्तानि च क्षमे।
अहं वो बांधवो जातः"।

अर्थः—ऐश्वर्ययोगके द्वारा मैं अपने सम्बन्धियों की दास्यता करता हूँ, आवे भोगोंको भोगता हूँ, उनकी कटूक्तियोंको क्षमा करता हूँ, और कहता हूँ "तुम हमारे बन्धु हुवे हो, अतः तुममें यह प्रीति करता हूँ"।

गुरु तत्पश्चात् शिष्यको आचार्य परंपराका उपदेश करे ॥१७॥

इति गुह्यतमं शास्त्रं रहस्यं साधुसम्मैः ॥
ऋते शिष्यान्न देयं चानुष्ठेयं गुरुयोगतः ॥१८॥

यह मन्त्र-रहस्य का प्रकाशक शास्त्र मन्त्रसे अभिन्न श्रीभगवान् के स्वरूप गुणादि विषयों के साक्षात्कार अनुभवका असाधारण

हेतु है। भगवान्का वाचक होनेसे भगवानका स्वरूप ही है, अतः केवल पूर्वोक्त लक्षणसंपन्न मुमुक्षु ही इसका अधिकारी है, यह स्मरण कराया। मूल श्लोक में "साधुसत्तमैः" पदका यही तात्पर्य है। गुरुशरणागतिपूर्वक पूर्वोक्त प्रकारसे इस विद्याको ग्रहण करना यह इसका विधान स्मरण कराया। भाव यह है कि (१) मन्त्राराधन (२) उसके उपदेष्टा गुरुका आराधन (३) मन्त्र के विषय भगवान् का आराधन, इन तीनों को अभिन्न समझ कर करे।

प्रमाणः-(१) "यत्तत्पदं पंचपदं तदेव वासुदेवो। न यतोऽन्यदस्ति"।

अर्थः—"जो ये मन्त्रके ५ पद हैं, वे वासुदेवस्वरूप हैं, अन्य नहीं"। इत्यादि श्रुतियोंमें मन्त्र और उसके वाच्य श्रीभगवान्को अभिन्न कहा है।

(२) "यस्यदेवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ"।

इत्यादि श्रुतिमें मन्त्रवाच्य श्रीभगवानका गुरुके साथ अभेद कथन किया है।

इसमें मन्त्रका आराधन मन्त्रके स्पष्ट अक्षरोच्चारण पूर्वक जप करना तथा पूर्वोक्तरीतिसे देशकालानुसार नित्य प्रथमार्थकी मीमांसाके अर्थको धारण करना ही है। उसके उपदेशक पूर्वोक्त शास्त्रलक्षण संपन्न श्रीगुरुदेव ही हैं। उनकी उपासनाकी रीति पहले कह चुके हैं। इस विद्याके विषय प्रथमपदार्थ भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनकी उपासना गुरुपदेशानुसार आत्मा-आत्मीय

संबन्धके विचार सहित करना चाहिये। अपने कर्त्तापनेका अभिमान छोडकर भगवानको प्रधानप्रयोजक कर्त्ता समझकर उन २ अवस्थाओं में उचित (१) अभिगमन (२) उपादान (३) पूजा (४) स्वाध्याय (५) योग आदि द्वारा सेवा करना चाहिये। यह शास्त्र गुह्यतम होनेसे अत्यन्त गोपनीय है। इसका अधिकारी भगवान् का अत्यन्त प्यारा है। शिष्य भी ४ प्रकारके हैं। उनमेंसे अन्तरंगतम शिष्य ही इसका अधिकारी है।

यदि साक्षात् श्रीगुरुने यह विद्या सिखादी हो, तो भी उनकी आज्ञा विना किसी अन्यको यह नहीं देना चाहिये।

प्रमाणः—"आचार्यद्धयेव हि विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापयति"।

अर्थः—आचार्यसे ही उपदिष्ट विद्या अत्यन्त सिद्धि प्राप्त कराती है।

इस नियम श्रुतिके अनुसार श्रीगुरुसे अन्यसे इसविद्याकी शिक्षालेना अनिष्टकारी है। यदि गुरु उसके लिये आज्ञादें तो दूसरेको उपदेश देनेमें कोई दोष नहीं है। गुरु अन्यत्र हों, या लीलासे अन्तर्हित होगयेहों तो जिज्ञासुको अपनेमें श्रद्धा विश्वास प्रीति आदिका निश्चय करके इस विद्याका उपदेश कर सकते हैं। यह विद्या भगवान्की प्रसन्नताका असाधारण कारण है, अतः अनधिकारीको कदापि न सिखावे। भगवान्की निरतिशय प्रसन्नता का फल भगवानके साथ नित्य सान्निद्धय होना है। यह सन्निद्धि २ प्रकारकी है।

(१) शरणागतिके व्याज (बहाने) से संतुष्ट, असाधारण करुणादिसिंधु श्रीभगवान् का स्वशरणागतके विषयमें नित्य सब प्रकारके संबन्धका साक्षात्कार होना।

प्रमाण:—(क) संधिं च योगं च संधत्ते ब्रह्मणे दशो रमते।
तस्मिन्नु जीर्णे शयाने नैनं जहात्यहस्सु पूर्वेषु ॥

यह तैत्तिरीय उपनिषत् प्रमाण है।

अर्थ:—ऐसे परमप्रिय शरणागतके साथ भगवान् स्वयं संधि (मेल) तथा संबन्ध धारण करते हैं, और वह ब्रह्मके साथ इसी प्रकार रमण करता है। उसके जीर्ण होनेपर या सोने पर कभी भी इसका त्याग नहीं करते।

(ख) "न त्यजेयं कथंचन नारायणन्तमन्वास्ते।
वत्सं गौरिव वत्सला"

अर्थ:—वत्सला गाय जैसे अपने बछडेके पीछे २ फिरती है, वैसी प्रकार स्वयं नारायण उस शरणागतके पीछे २ फिरते हैं, कभी भी त्याग नहीं करते।

(२) अब दूसरे सान्निद्धय का भाव दिखाते हैं। स्वयं अपनी कृपापूर्वक कराई हुई शरणागति के व्याजसे प्रकट हुआ तथा अत्यन्त कारुण्यादि गुणोंसे अत्यन्त प्रसादके कारण निरतिशय प्रीतिसे कराया हुआ प्रपत्तव्य श्रीभगवान्का नित्य अभियोग (सर्व प्रकारका संबन्ध)।

प्रमाणः—"येन येन धाता गच्छति तेन तेन सह गच्छति"।

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
यन्मयत्वेन गोविन्देये नरान्यस्तचेतसः।
विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदंतिके" ॥

अर्थः—धाता श्रीभगवान ऐसे प्रिय भक्तके साथ २ चलते हैं। निरन्तर सावधान हो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करनेवाले तथा भगवान् ही में तन्मय होकर चित्त लगा देने वाले सांसारिक विषयों के त्यागी शरणागतोंको मेरे समीप ही में जानना चाहिये, अर्थात् मुझसे उनका वियोग कभी भी नहीं होता, यह तात्पर्य है।

॥ हरि ॐ तत्सत् ॥

इति "श्रीमन्त्ररहस्यषोडशी" की 'भावार्थ प्रकाशिका संक्षिप्त हिन्दी टीका' श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र-चरण-कमल-चंचरीक जगदीशप्रसाद गोयल कृत संपूर्ण।

निम्नलिखित पुस्तकें श्री अनादि वैदिक सत्संप्रदायी वैष्णवों को बिना मूल्य मिलेंगी।

(१) लघुस्तवराज स्तोत्र—

श्री गुरुभक्ति प्रकाशिका टीका सहित

(२) श्रीरहस्य सिद्धान्त ग्रंथमाला—

(प्रथम गुच्छक) युगलकिशोरशरण गोयलकृत

(३) श्री मंत्ररहस्यषोडशी—

भावार्थ प्रकाशिका

प्राप्ति-स्थान—

पं० किशोरदास
वंशीवट, वृन्दावन
जि० मथुरा।

नन्दराम श्रीनिवास
जौहरी बाजार
जयपुर सिटी (राजस्थान)

मनोहरलाल गोयल द्वारा मनोरंजन प्रेस, जयपुर में मुद्रित।